शतरंज के खिलाड़ी

ऐतिहासिक नाटक

लेखक
हरिकृष्ण 'प्रेमी'

१९५५
आत्माराम एण्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
काश्मीरी गेट
दिल्ली—६
मूल्य १॥)

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

लेखक की अन्य पुस्तकें

नाटक

छाया	(सामाजिक)	१)
बधन	(सामाजिक)	१)
विषपान	(ऐतिहासिक)	१॥)
उद्धार	(ऐतिहासिक)	२)
स्वप्नभग	(ऐतिहासिक)	१॥)
शपथ	(ऐतिहासिक)	२॥)
रक्षाबधन	(ऐतिहासिक)	१=)
शिवा-साधना	(ऐतिहासिक)	२)
प्रतिशोध	(ऐतिहासिक)	२)
आहुति	(ऐतिहासिक)	१)
प्रकाश-स्तम्भ	(ऐतिहासिक)	२)
बादलो के पार	(लघु नाटक)	३)

कविता

रूप-दर्शन (सचित्र)	६)
वन्दना के बोल	२)
आँखों में	२॥)

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

मुद्रक
अमरजीतसिंह नलवा
सागर प्रेस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

भूमिका

'शतरंज के खिलाडी' नाटक प्रस्तुत करते हुए मै हर्ष-विषाद के झूले में झूल रहा हूँ। आज के अनेक गणमान्य, विद्वान आलोचक मुझे अपनी रचनाओ में नैतिकता का प्रचार करते देखकर मुझ पर अश्रद्धा भी प्रकट कर चुके है, किन्तु मुझे अपने विचारो की गति मोडने के लिए आज भी कोई कारण दृष्टिगोचर नहीं होता। विदेशी-आलोचको से उधार लिये हुए शब्दो के विषबुझे बाणो से मेरे हृदय-निवासी साहित्य-सृष्टा के हृदय को क्षत-विक्षत करने का प्रयास प्राय होता ही रहता है। उनसे मुझे वेदना नही होती ऐसा विदेह तो मै नही हूँ, फिर भी इन व्रणो को पालकर अपनी साधना मे रत रहने का अभ्यास मुझे हो गया है।

'शतरज के खिलाडी' मे भी मेरा परम् प्रिय विषय साम्प्रदायिक एकता है जिसे ज़रा उदार होकर सोचने पर राष्ट्रीय एकता, जरा गहरे उतरने पर सास्कृतिक एकता, और जरा और गहरे उतरकर देखने पर मानवीय एकता भी कह सकते है। इस विषय के पीछे मै क्यो बुरी तरह पड गया हूँ यह प्रश्न प्राय मुझ से पूछा जाता है। प्रश्नकर्ताओ से मै पूछता हूँ कि कोई साहित्यकार अपने देश के मानवो को प्रीति के गठबंधन मे बॉधकर देश की शक्ति को बढाने की आकाक्षा रखता है तो क्या वह कोई हीन कार्य करता है? उसके जीवन का एक सुनिश्चित लक्ष्य है, क्या यही उसकी लघुता है—निर्बलता है।

मैने सामाजिक नाटक कम लिखे है, और ऐतिहासिक अधिक और अब भी इतिहास के प्रति मेरी ममता समाप्त नही होती। इतिहास—हमारा भूत—हमारा बीता हुआ कल हमारे आज की बुनियाद है। इतिहास का महत्त्व भारत ने ठीक-ठीक नही समझा और इसीलिए हमारे अतीत के अनेक कीर्ति-स्तभ पथ्वी के उदर मे समा गए; जो है

वे धर्म-ग्रन्थ बनकर श्रद्धा के चमत्कार द्वारा कल्पना के रँग में रँगकर अपनी ऐतिहासिकता को बहुत कुछ खो चुके है। छज्जो के कँगूरे सजाने वाला कलाकार नीव के रोडो को व्यर्थ नही कह सकता। बिना दृढ आधार के हमारा समाज, हमारी संस्कृति, हमारी राष्ट्रीयता और हमारी मानवता खडी कैसे रह सकती है। मै तो अपने राष्ट्र के पैरो को इतिहास का बल देना चाहता हूँ।

मेरा साहित्य निम्नकोटि का है, ऐसा आज का आलोचक कह ले, मुझे इसकी चिंता नही। भारत दीर्घकाल से कर्म के महत्त्व को भूल बैठा है। उसकी धारणा है कि ब्राह्मण पढता है—पढाता है—वह महान् है—किन्तु जो ब्राह्मण के शरीर की सेवा करता है वह नीच है—शूद्र है, अछूत है। उसका समाज में आदरणीय स्थान नही है। साहित्य के क्षेत्र में भी लघुता और महानता की सीमाएँ आज दिखाई देती है। हम अपने समाज की भांति साहित्य के क्षेत्र मे भी जातियाँ बनाकर उसकी एक-रूपता को नष्ट कर देना चाहते है।

साहित्यकार एकागी हो जाय ऐसा तो मै नही मानता। उसे प्रत्येक दिशा मे अपनी प्रतिभा का प्रयोग करना चाहिए। मै स्वय कविता और नाटक दोनों ही क्षेत्रों में विविध दिशाओ मे उड़ा हूँ। बहुत-सा साहित्य व्यक्ति अपने ही लिए लिखता है—या कह लो 'स्वात: सुखाय' लिखता है, किन्तु वह 'स्वात: सुखाय' कब 'संसार के सुख के लिए' बन जाता है, इसे साहित्य-सृष्टा स्वय नही जान पाता। केवल कारीगरी प्रदर्शित करके प्रशसकों से प्रशंसा पाकर निहाल होने के लिए साहित्य-सृजन का युग आज नहीं है। साहित्य को इतना संकुचित और सीमित बनाना उसके पखों को काट डालना है। कोई एक दिशा मे बहुत ऊँचा उड़कर गया है—हमें उसकी भी प्रशसा करनी चाहिए किन्तु जो उस दिशा में जाते है जिस दिशा में जाने की युग की माँग है वे भी प्रशंसनीय है। हमे उनका भी अभिनन्दन करना चाहिए।

प्रचार और ललित-कला की सीमाओ से मै अपरिचित नही हूँ।

नाटक ललित-कला है और यदि उसमे कथा और नाटकीयता प्रचार के बोझ से दब जाए तो निस्सदेह कला की कमर दुखने लगेगी। मै इस बात को अस्वीकार नही करता कि मेरे एक-दो नाटको मे यह निर्बलता आई है, किन्तु सदा ऐसा हुआ है यह बात असत्य है। कथानको का चुनाव मैने अपने उद्देश्य के अनुकूल कर लिया है, उसके पश्चात् चरित्रो के स्वाभाविक और सजीव विकास की ओर मेरा ध्यान रहा है। मेरे इस प्रकार के नाटको के कुछ महत्त्वपूर्ण पात्र किसी उद्देश्य के लिए जीते है, उसी के लिए मरते है—जीवन भर सघर्ष करते है। मानवोचित अन्य भावनाएँ भी उसमे है जो यथास्थान अपना रँग दिखाती है। प्रचार तो इन पात्रो का अग बनकर अपनी मर्यादा के साथ आता है।

एक लक्ष्य को सामने रखकर नाटको की रचना करने से मुझे हानि भी हुई है और लाभ भी प्राप्त हुआ है। हानि तो यही हुई कि कला कला के लिए सिद्धान्त के भक्त आलोचक इन रचनाओ से प्रसन्न नही हुए, किन्तु मुझे आश्चर्य इस बात का है कि ये बधु बर्नार्ड शॉ और इब्सन आदि विदेशी नाटककारो के आगे मस्तक झुकाते है, जो कला को उद्देश्य की सीमा से निर्वासित नही कर सके। विदेश के साहित्यकार के लिए एक कसौटी और अपने देश के साधनहीन साधक के लिए दूसरी—अधिक तीखी। आखिर क्यो? मै मानता हूँ उनकी समस्याएँ बहुमुखी है—किन्तु क्या हम उनकी रचनाओ पर विचार करते हुए उस समाज का अदाज़ नही लगा सकते जिसमे लेखक रहता है—जिसके लिए वह लिखता है? भारतीय साहित्यकार के सामने भारतीय समाज है और इस समाज की आवश्यकता है। यदि वह उससे बँधा हुआ है तो यह उसकी निर्बलता नही है; उसकी ईमानदारी है। अपने घर मे अँधेरा रखकर संपूर्ण ससार मे प्रकाश करने की महानता का श्रेय प्राप्त करने की आकांक्षा मुझे नही है और सीमा ने मुझे लाभ यह पहुँचाया कि जन-मानस ने मुझे अपना लिया।

हमारे इतिहास के गभीर अध्ययन से हमारे जन-जीवन की जिन

निर्बलताओं पर प्रकाश पडता है और जिनके कारण हम विभाजित रह-कर पराजित, पददलित और पराधीन होते आए है वे ही निर्बलताएँ भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् फिर अधिक प्रबल हो उठी है। अंग्रेजो को हमने हटाया, राजाओ को हमने गद्दी से उतारा—लेकिन हम पूर्ण स्वतत्र आज भी न हो सके। अंग्रेज़ तो गए लेकिन राजा लोग, जागीरदार समुदाय, ज़मीदार बृन्द और पूँजीपति वर्ग स्वाधीनता के अमृत-फल को स्वय हड़प लेना चाहते हे। तारीफ की बात यह है कि जिन्होने अपने सर्वस्व और जीवन की बाज़ी लगाकर स्वाधीनता की देवी को मनाया उन्हे अयोग्य, स्वार्थी और कपटी कहकर अपने आपको जनता के हितेषु सिद्ध करने के लिए ये हाथ-पैर मार रहे है और अपढ-भोली जनता को भ्रम मे डालने के लिए साम्प्रदायिक उन्माद का धुआँ फैलाने मे ये निरत है। इस धुएँ से, इस अँधेरे से हमे लड़ना ही है। इसलिए मै इस प्रकार के नाटक भी लिखना नही छोड सकता। मै समझता हूँ अभी इनकी आवश्यकता है।

अब एक बात अपनी नाट्यकला के सम्बन्ध मे कह दूं। नाटक लिखा जाए—तो उसे खेला भी जाना चाहिए। खेला जा सके ऐसा ही नाटक लिखा जाना चाहिए। मुझे इस बात का सतोष है कि मेरे नाटक देश के कोने-कोने मे खेले जा चुके है। यहाँ मै एक कालेज के प्रिंसिपल महाशय के शब्द दोहराता हूँ। उन्होने मुझ से कहा—"हम हर साल चाहते है कि आपका नाटक न खेले लेकिन हमें हर साल आपका ही नाटक खेलना पडता है।" वास्तविकता यह है, लेकिन फिर भी नाट्यकला की दृष्टि से मेरे नाटक दो कौड़ी के है ऐसा कहने वाले भी कम नही। उनके मस्तिष्क मे इगलैंड, अमेरिका और रूस आदि की विशेष प्रकार की नाट्यकला भरी हुई है। मै उस नाट्यकला को हीन समझता हूँ ऐसी बात नही—लेकिन उसका प्रयोग आज तुरन्त ही भारत मे सफलतापूर्वक होना दुस्साध्य है। एक नाटक मे तीन या पाँच अंक और फिर प्रत्येक अक मे अनेक दृश्य की परिपाटी अब वहाँ नही है। एक

नाटक मे तीन-चार दृश्य (जिन्हे प्राय अंक ही कहा जाता है) रखे जाते है। पर्दों का प्रयोग नही के बराबर होता है और स्टेज पर ऐसा सैटिग खडा किया जाता है जिसमे सेक्सपीरियन कहो, डी एल. राय के जैसे कहो या प्रसाद और प्रेमी के नाटको जैसे कहो नाटको के अनेक दृश्य सिमिट-कर एक दृश्य मे शामिल होकर, खेले जा सकें। पर्दों का प्रयोग करने से कथानक अनेक छोटे-छोटे दृश्यो मे विभाजित किया जा सकता है। विदेशो मे प्रयुक्त आधुनिक स्टेज भारत में दुर्लभ ही है। एक पृथ्वीराज ने ही इसका सफल प्रयोग किया है—और उन्होने अपने प्रयोग के लिए विशेष नाटक लिखवाये है किन्तु वह तो एक प्रकार से इसे पेशा बना बैठे है—उन्हे हजारो रुपया खर्च करके अपने नाटको के सेटिंग्स तैयार करने पडे हैं। आये दिन नाटक खेलने वाले य साधन नही जुटा सकते। उसके लिए तो सेटिंग्स की नाट्यकला से पर्दो की नाट्यकला सरल बैठती है। इसी कारण मै अधिक लोगों का होकर रहा हूँ। किन्तु मै सेटिंग्स वाली नाट्यकला का विरोधी भी नही हूँ। उस प्रकार के कुछ नाटक रचने का मेरा इरादा है जो मै निकट भविष्य मे पूरा करूँगा।

एक बात इस नाटक की भाषा के सम्बन्ध मे भी कह दूँ। मैंने अपने 'रक्षाबधन', 'शिवा-साधना', 'प्रतिशोध' और 'आहुति' आदि नाटको में मुसलमान पात्रो से उर्दू भाषा बुलवाई है, किन्तु इस 'शतरज के खिलाडी' और 'स्वप्नभंग' मे ऐसा नही किया। 'स्वप्नभग' के पात्रो मे मुसलमानो की बहुसख्या है और यदि उनसे उर्दू भाषा बुलवाता तो नाटक उर्दू भाषा का ही बन जाता। बस, मैंने उर्दू भाषा का मोह छोड़ दिया। पात्रो के धर्म या देश के अनुसार भाषा मे परिवर्तन करने का नियम रखा जाता तो 'रक्षाबधन' मे पोर्चुगीज़ पात्र से पोर्चुगीज भाषा बुलवानी पड़ती। किसी से हिन्दी, किसी से उर्दू, किसी से पोर्चुगीज़, किसी से राजस्थानी—एक अच्छा-खासा मजाक बन जाता। अत अब मै हिन्दी भाषा के नाटको मे हिन्दी भाषा का ही प्रयोग प्रत्येक पात्र के कथोपकथन में करने लगा हूँ।

हरिकृष्ण 'प्रेमी'

पात्र-परिचय

पुरुष पात्र

जीतसिंह	जैसलमेर के महारावल
मूलराज	जीतसिंह का ज्येष्ठ पुत्र, पहले युवराज बाद मे महारावल
अलाउद्दीन	दिल्ली के बादशाह
महबूबखाँ	दिल्ली का एक सेनापति।
रत्नसिंह	जीतसिंह का छोटा पुत्र
रहमानखाँ	महबूब का छोटा भाई
महाकाल	एक राजपूत नायक
गिरिसिंह	रत्नसिंह का पुत्र

स्त्री पात्र

अनवरी	महबूब की बेगम
अख्तरी	महबूब की पुत्री
किरणमयी	मूलराज की पत्नी
प्रभा	मूलराज की पुत्री
तांडवी	महाकाल की बहन

गौण पात्र

दिल्ली के सैनिक, राजपूत सैनिक, क्षत्राणियाँ आदि।

शतरंज के खिलाड़ी

पहला अंक

पहला दृश्य

[समय—संध्या। स्थान महबूब की अट्टालिका में उस की बैठक। कक्ष पर्याप्त लंबा-चौड़ा है। दीवारों पर सिंहो, चीतो और हिरनों की मस्तक सहित खालें टँगी हुई हैं, तलवारें, तेग, नेज़े एवं अन्य अस्त्र-शस्त्र उपयुक्त स्थानों पर सजे हुए हैं। छत से नीचे की ओर फानूस लटक रहे हैं। कमरे में दो शमादान रखे हैं। सारे फ़र्श पर एक छपी हुई जाजम बिछी हुई है जिस पर सामने की दीवार से मिलाकर एक चौकोर ईरानी कालीन बिछी है जिस पर तीन तरफ़ तीन मसंद रखे हुए हैं। दोनों बगल के मसंदों के साथ महबूब और रत्नसिंह बैठे हैं। बीच में शतरंज बिछी हुई है और दोनों खेल में व्यस्त हैं। दोनों के बगल में एक-एक नेज़वाला हुक्का रखा है जिससे वे कश खींचते जाते हैं। रत्नसिंह की कमर में तलवार बँधी हुई है।]

महबूब—तुम में यही तो खराबी है कि तुम पहले किला बाँधते हो। राजपूतों की भाँति अपनी ही रक्षा मे अधिक व्यस्त रहते हो।

रत्नसिंह—फिर भी मात तो नही खाता। आक्रमणकारी बड़े जोश से आगे बढता है लेकिन हमारे दुर्ग की दीवारो से टकरा-टकराकर रह जाता है और शत्रु को थकाकर जब हम उस पर आक्रमण करते है तो उससे भागते ही बनता ह।

महबूब—लेकिन मेरे भाई यह शतरज है। यहाँ तो जो पहले घर दबाए वह अन्त तक शत्रु पर अपना आतंक जमाए रहता है।

रत्नसिंह—हम-तुम वर्षों से शतरंज खेल रहे है महबूब, लेकिन क्या कभी तुम मुझे अधिक बार मात दे सके हो ?

महबूब—तो यह लो—शय और मात ।

रत्नसिंह—तो क्या तुम समझते हो अब चाल ही नही है ? अभी देखो ऐसी चाल चलूँगा कि लेने के देने पड़ जायँगे ।

[हुक्का का कश खींचता है और विचार में पड़ता है । इतने में अख्तरी आती है और रत्नसिंह के पास आ बैठती है ।]

अख्तरी—क्यो चाचा जी, आपके किले का क्या हाल है ?

रत्नसिंह—किले का हाल तो बाद में बताऊँगा—पहले तेरे कान खींचूंगा ।

अख्तरी—कान खीचोगे—क्यों ?

रत्नसिंह—इसलिए कि तूने मुझे फिर चाचा कहा

अख्तरी—नही तो क्या कहूँ ?

रत्नसिंह—राजस्थान मे चाचा को काका कहते है ।

अख्तरी—और दिल्ली में काका को चाचा कहते है ।

रत्नसिंह—लेकिन मै राजस्थान मे रहता हूं ।

अख्तरी—लेकिन मैं दिल्ली में रहती हूँ—और अभी आप भी दिल्ली में बैंठे हें । जैसा देश वैसा वेश ।

रत्नसिंह—लेकिन वैसी भाषा नहीं ।

अख्तरी—क्यों नही—क्या हिन्दुस्तान में हम अरबी-फारसी बोलेंगे ?

रत्नसिंह—अपने घर में तो बोल ही सकती हो ।

महबूब—रत्नसिंह, काका-चाचा का झमेला बन्द करके चाल चलो ।

रत्नसिंह—तुम हमारे मित्र हो, तुम से क्या चाल चले ? मित्र को पराजित करने में भी हृदय को वेदना होती है ।

महबूब—क्या कहने है, बड़े उदार हो ! कर्ण के अवतार !

रत्नसिंह—कर्ण को तुम क्या जानो—हातिम का नाम लिया होता

तो तुम्हारे मुँह से शोभा देता।

महबूब—और तुम हातिम को क्या जानो ?

रत्नसिंह—क्यो नही जानता ? मैंने हातिम के किस्से तुम से सुने हैं।

महबूब—और मैंने कर्ण की कथा तुमसे सुनी है।

रत्नसिंह—ठीक है, ठीक है, मुझे भी चाल सूझ गई—लेकिन घोड़ा पिटवाना पडता है। (**चाल चलता हुआ**) लो यह घोड़ा आया अर्दब में। देखा, इस तरह बलिदान देकर राजपूत हारी बाजी भी जीत जाता है।

महबूब—तुमने चाल तो ऐसी चली कि मुझे एक नई बात मालूम हुई। (**हुक्के से कश खींचता है।**)

रत्नसिंह—नई बात क्या ?

महबूब—यही कि किसी-किसी राजपूत की खोपडी मे बुद्धि भी होती है।

रत्नसिंह—तो क्या तुम समझते हो राजपूतो मे बुद्धि होती ही नही है ?

महबूब—होती तो क्या मुट्ठी भर मुसलमान भारत पर राज जमा पाते। लडना भी तुम जानते हो, मारना भी तुम जानते हो, मरना भी जानते हो—लेकिन फिर भी मुसलमानो को तुम रोक नही पाए—क्यो ?

[**एक हिंदू लड़की पानी की तश्तरी लेकर आती है।**]

महबूब—पहले इन्हे दो। मै छू लूँगा तो यह न खा सकेंगे।

अख्तरी—क्यो ?

महबूब—हिंदू मुसलमानो के हाथ का छुआ नही खाते—धर्म चला जाता है।

अख्तरी—अच्छा जी, तो मुसलमान इसान नही है—लेकिन (**कहते हुए अख्तरी तश्तरी में से एक पान उठा लेती है**) मेरे चाचा तो अपने दिल मे ऐसा नही सोचते। मै खुद इन्हे पान खिलाऊँगी। मुँह खोलो, चाचा !

रत्नसिंह—चाचा नही, काका कहो।

अख्तरी—अच्छा, मेरे अच्छे काका, मुँह खोलो !

[रत्नसिंह मुँह खोलता है और अख्तरी पान खिलाती है। इतने में अनवरी आती है जो बेनकाब है।]

रत्नसिंह—भाभी जी, आज आप इस तरह बेनकाब बाहर आ गईं !

अनवरी—हाँ, मै चिलमन की ओट से अख्तरी का बचपन देख रही थी। आप जब मित्रता के कारण मुसलमानो के प्रति सदियों से घर की हुई घृणा को भुलाकर उनके हाथ का खा सकते है तो क्या मै पर्दे की छोटी-सी वाहियात रस्म नही तोड सकती ?

महबूब—लेकिन चाँद जब बादलो के बाहर निकल आयगा तो उस पर न जाने कितनी मैली नजरे पड़ने लगेंगी।

अनवरी—लेकिन, रत्नसिंह जी राजपूत है—उनकी नजर लाल हो सकती है—काली नही।

रत्नसिंह—हिंदू तो चद्र को पवित्र समझता है—देवता मानकर अर्घ देता है।

अनवरी—तभी उनके घरो के चाँद पर्दे मे नही रहते।

महबूब—अगर रत्नसिंह जैसे हिंदू कुछ और हिंदुस्तान मे हो जायँ तो हम सारे मुसलमान कुछ वर्षों मे ही अपने रीति-रिवाज छोड-छोड़कर हिंदू ही बन जायँ।

रत्नसिंह—ये हवाई क़िले बाँधना बंद करो—और चाल चलो।

महबूब—अब क्या चाल चलूँ, आज तो तुमने चाल चलकर बेगम साहिबा को ही जीत लिया।

रत्नसिंह—तो तुम मैदान छोड़कर भागते हो ?

अनवरी—छोड़ो भी इस झूठी लड़ाई को।

[शतरंज को उलट देती है।]

महबूब—वाह, यह क्या किया, बेगम ! अपने देवर पर इतनी कृपा कि इन्हे हारते देखकर खेल ही बिगाड़ दिया। कही ऐसा न हो कि हम

दोनों भाइयो मे तुम्हारे कारण तलवारे तन जायँ।

अनवरी—बड़े खराब हो तुम ! ऐसी बात कहते हुए तुम्हे शर्म नही आती। लड़ने के लिए और भी बहुत से कारण हो सकते है—क्या तलवारे सिर्फ़ औरत के लिए तनती है ?

महबूब—इसका अर्थ यह हुआ कि हम दोनो शतरज के खिलाड़ी किसी दिन सच्ची लड़ाई भी लड सकते है।

रत्नसिंह—यह कोई असभव बात तो है नही। जब तक अलाउद्दीन के हृदय मे सारे भारत का सम्राट् बनने की आकाक्षा है तब तक किसी भी दिन युद्धभूमि मे हमारी तलवारो के भिड़ने की सभावना भी है।

महबूब—खुदा न करे ऐसा दिन कभी आए—लेकिन अगर कभी आया तब भी हमारा शतरज का खेल बद न हो, ऐसा मै चाहूँगा।

रत्नसिंह—युद्ध के समय के अतिरिक्त हम मित्र और भाई की भाँति मिलेंगे—शतरज खेलेगे।

अख्तरी—और मेरे हाथ से पान खाओगे !

रत्नसिंह—खाऊँगा।

अख्तरी—और अगर मै अब्बा के दुश्मन को पान मे रखकर ज़हर खिला दूँगी तो······

रत्नसिंह—तो मै मर जाऊँगा, लेकिन मेरे साथ ही मित्रता का नाम भी मर जायगा।

अनवरी—यह मरने-मारने की बात छोड़ो—और मेरे साथ आओ—आज मैने बहुत सुन्दर सुनहरी मछलियाँ मँगाई है। बगीचे के हौज़ मे तैरती हुई वे बहुत सुन्दर जान पड़ती है। चलकर देखिए।

[सब का प्रस्थान]

[पट-परिवर्तन]

दूसरा दृश्य

[समय—दोपहर। स्थान—जैसलमेर से कुछ दूर मरुस्थल मे एक मार्ग—रेतीला रास्ता। रास्ते के किनारे केवल एक बबूल का पेड़ दृष्टिगोचर हो रहा है। दो मुसलमान सैनिक प्रवेश करते है जो अस्त्र-शस्त्र से सज्जित हैं—नवयुवक हैं—बलिष्ठ है किन्तु यात्रा-श्रम से श्रांत-क्लांत जान पड़ते हैं। शरीर के अंग धूल-धूसरित हो गए हैं। तेज धूप से गाल रक्तवर्ण हो गए हैं। दोनो बबूल के पेड़ के नीचे रुकते है।]

एक सैनिक—या अल्लाह! राजस्थान मे सफर करना मौत को बलाना है।

दूसरा सैनिक—खुशी की बात है कि कोसो बाद एक पेड़ तो दिखाई दिया।

पहला सैनिक—लेकिन पानी तो अब भी नही मिला।

दूसरा सैनिक—मिलेगा भाई, जहाँ धुआँ दिखाई देता है वहाँ आग भी होती है।

पहला सैनिक—धुआँ और आग! क्या व्यर्थ की बात करते हो?

दूसरा सैनिक—मेरा कहना है कि जब पेड दिखाई दिया है तो पानी भी मिलेगा। जैसे धुआँ आग के बिना नही हो सकता उसी तरह पेड़ पानी के बिना नही हो सकता।

पहला सैनिक—अरे खैर—बबूलो का क्या ये तो बरसात के पानी से हरिया जाते है और दूसरी बरसात तक के लिए पानी पी लेते हैं।

दूसरा सैनिक—ठीक ऊँट की तरह।

पहला सैनिक—जान पड़ता है यहाँ आदमी भी बरसात में ही पानी पीता है, फिर शायद साल भर तक नही पीता।

दूसरा सैनिक—ज्यादा प्यास लगी भी तो शायद खून पीना उसे भला लगता है।

पहला सैनिक—तभी तो राजपूतो को रात-दिन लड़ते रहने मे आनन्द आता है। आए दिन लोहा लेते फिरते हैं।

दूसरा सैनिक—लेकिन मुसलमान क्या कम हैं। अरब भी तो रेगिस्तान है जहाँ से इस्लाम की आग जली है, जिसकी लपटो में ईरान, अफ़गानिस्तान आदि देशो के धर्म जलकर राख हो गए।

पहला सैनिक—लेकिन वही आग हिन्दुस्तान मे ठण्डी हुई जा रही है। दो आगो की होड़ है।

दूसरा सैनिक—ये दोनो आगे एक नही हो जायँगी तब तक यह होड़ समाप्त नही होगी।

पहला सैनिक—अच्छा है, यह लडाई की ज्वाला कभी समाप्त न हो।

दूसरा सैनिक—क्यो भाई, तुम ऐसा क्यो चाहते हो ?

पहला सैनिक—ससार पर उपकार करने के लिए।

दूसरा सैनिक—रक्त के महासागर मे तुम्हे ससार का उपकार दिखाई देता है।

पहला सैनिक—हाँ, जीवन जितना आवश्यक है मरण भी उतना ही। आदमी केवल उत्पन्न होता रहे, मरे नही तो उसे न तो रहने को स्थान मिले, न खाने को अन्न और न पहनने को वस्त्र। ससार को सुखी रखना है तो आदमियो की संख्या घटाओ। मैं तो इस उसूल को मानता हूँ। युद्ध मे आदम के बेटों के सर इस तरह काटे जाते हैं जैसे किसान जुआर के भुट्टे काटता है। जैसे जुआर के भुट्टे पकने पर काटे ही जाने चाहिएँ उसी तरह मनुष्य के मस्तक भी पक जाने पर काटे जाने चाहिएँ।

दूसरा सैनिक—तोबा:, तुम इंसान नही शैतान हो। तुम्हारा उसूल भी शैतानियत का उसूल है। मनुष्य को मारने के लिए प्रकृति स्वय ही अनेक यत्न करती रहती है। हमे प्रकृति का काम अपने हाथ मे नही लेना चाहिए।

पहला सैनिक—लड़ाई भी तो प्रकृति के इशारे पर ही होती है। इसान के अन्तस्तल मे जीवन के बीज हैं। वह पैदा करता है । एक से दो—दो से चार और इसी तरह हजारों—लाखों—करोड़ो इसान बन जाते हैं, लेकिन इसान के ही हृदय मे मृत्यु के भी बीज हैं। वह पैदा भी करता है—वह मारता भी है। मारना जरूरी भी है, नही तो मनुष्य-संख्या असंख्य हो जाय।

दूसरा सैनिक—हो जाय तो हो जाने दो। इस दुनिया में अभी बहुत धरती है।

पहला सैनिक—लेकिन इस धरती के स्तनों में इतना दूध नहीं है कि अपने असख्य बच्चों को दूध पिला सके। इतने लोगों को खिलाने के लिए अन्न कहाँ से लाओगे ? अरब रेगिस्तान है—वहाँ बड़ी कठिनाई से कुछ पेट मे डालने योग्य वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं—वहाँ की थोडी-सी मनुष्य-सख्या की भी भूख उससे नही भरती—तब उसे अन्न की तलाश में आगे बढना पड़ा—वह ईरान मे घुसा—वहाँ से अफ़ग़ानिस्तान मे आया—वहाँ से हिन्दुस्तान मे आ पहुँचा।

दूसरा सैनिक—हः ह, तुम समझते हो कि मुसलमान भोजन की तलाश में अपने देश के बाहर बढ़े।

पहला सैनिक—नहीं तो क्यों ?

दूसरा सैनिक—इस्लाम को संसार का धर्म बनाने की अभिलाषा से।

पहला सैनिक—झूठ—बिलकुल झूठ। इंसान की पहली जरूरत है शरीर की भूख-प्यास और शरीर का सुख। वह पहले उसी की पूर्ति करता है। अरब में उसकी पूर्ति नही हुई इसीलिए उसने धर्म का बहाना बनाकर सांसारिक सुखों की पूर्ति के लिए आगे बढना शुरू किया।

[**इसी समय एक युवती सर पर भरा हुआ घड़ा लिये हुए प्रवेश करती है।**]

दूसरा सैनिक—ऐ जन्नत की हूर की तरह तुम कौन हो ? क्या ख़ुदा

ने तुम्हे हमारी प्यास बुझाने के लिए भेजा है ?

[कहते हुए उसका रास्ता रोकता है ।]

युवती—(एक हाथ से घड़े को साधे हुए दूसरे से कमर से बँधी कटार निकालकर) मेरी कटार की प्यास बुझाने के लिए भगवान् ने तुम्हे भेजा है ।

[दूसरा सैनिक जरा पीछे हटता है ।]

पहला सैनिक—आप आपे के बाहर न होइए । हम लम्बी यात्रा करते हुए आए है और सचमुच प्यासे है ।

दूसरा सैनिक—आपके सिर पर घड़ा है ।

युवती—और उसमे जहर है ।

पहला सैनिक—जहर किस लिए ?

युवती—सुनते हैं हमारे खेतो पर टिड्डियाँ हमला करेगी—उनको मारने के लिए खेतों पर जहर छिड़कना होगा ।

पहला सैनिक—(दूसरे सैनिक से) देखो—मेरा सिद्धान्त कितना सही है । जीवन देने से अधिक उपकार मार डालने मे है ।

युवती—अब तो मेरे रास्ते से हटो ।

दूसरा सैनिक—लेकिन जब तक हमारी प्यास नही बुझेगी हम हटेगे नहीं ।

पहला सैनिक—हमे पानी कहाँ मिलेगा ?

युवती—राजस्थान मे राजस्थान-वासियो के पीने भर को भी पानी नही है फिर तुम बाहरी लोग क्यों आते हो ?

दूसरा सैनिक—हम मर भी जायँगे तो तुम्हे दया नही आएगी ?

युवती—डाकुओ पर दया करना सर्वसाधारण पर अत्याचार करना है ।

पहला सैनिक—क्या हम डाकू है ?

युवती—तुम विदेशी हो, भारत पर राज करन आए हो । हमारी सुख-शाति की फुलवारी में आग लगाने आए हो ।

पहला सैनिक—हम भारत पर राज करने आए है और हम समझते है तुम भी हमारी प्रजा हो । हम तुम्हे आज्ञा देते है कि हमारे लिए पानी का प्रबन्ध करो ।

युवती—चलो मेरे साथ ।

दूसरा सैनिक—लेकिन हम सिर्फ दो नही है । पचास सैनिक और पचहत्तर ऊँट ।

युवती—सैनिक पचास और ऊँट पचहत्तर । एक ऊँट पर एक सैनिक और पच्चीस पर क्या है ?

पहला सैनिक—ऊँटों की कूब ?

युवती—हः-हः, हँसी करते हो । मै समझ गई । उन ऊँटो पर खजाना है । है न, शायद दिल्ली के बादशाह का । अच्छी बात है, मै तुम सबको पानी पिलवाऊँगी—लेकिन बदले मे इस खजाने से हाथ धोना पड़ेगा ।

दूसरा सैनिक—अरी लड़की, तू दिल्ली के सैनिको से मसखरी करती है ।

युवती—राजपूत लोगो का दिल्ली से कुछ मसखरी का सम्बन्ध है ही । पानी तो आप लोग पा ही जायँगे—उधर देखिए उस टीले के पास एक बावड़ी है । आप दोनो को पिला सकूँ इतना पानी तो...

दूसरा सैनिक—आपकी आँखो मे भी है ।

युवती—नही, मेरी कटार मे भी है—लेकिन आप सब साथी एक साथ ही पीजिएगा ।

[कहती हुई चली जाती है । दोनों सैनिक विस्मय की दृष्टि से देखते रह जाते है ।]

पहला सैनिक—उधर देखो आसमान मे कुछ बादल उमड़ रहे है ।

दूसरा सैनिक—ऐसा जान पडता है यह शीघ्र ही गहरे होकर सारे आकाश को काला कर देगें ।

पहला सैनिक—और फिर बरसात होगी ।

दूसरा सैनिक—और धरती गीली होगी।

पहला सैनिक—और प्यास बुझेगी।

दूसरा सैनिक—यह तो ठीक है, लेकिन हमे अपने साथियो को साथ लेकर उस टीले के पास पहुँचना चाहिए।

[दोनो का प्रस्थान]

[पट-परिवर्तन]

तीसरा दृश्य

[स्थान—वन। समय—अर्ध रात्रि। एक झोंपड़ी में एक चारपाई पर तांडवी सो रही है। उसका सारा शरीर चादर से ढँका हुआ है। केवल मुँह खुला है। उसके लम्बे और घने बाल बिखरे हुए हैं। झोंपड़ी में एक खूंटी पर एक तलवार टँगी हुई है। एक कोने में तीर-कमान रखे हुए हैं। आसमान में बादल घिरे हुए हैं। अचानक बड़े जोर से बादल गरजता है। बिजली चमकती है। तांडवी सहसा चौंक पड़ती है। उठकर खड़ी हो जाती है।]

तांडवी—कैसी काली अँधेरी रात है। इस मरु-भूमि मे ऐसी घोर घटाएँ कभी नहीं घिरी थी। (उठकर तलवार उतारकर उसे नगी करती हैं। आसमान मे बिजली चमकती है।) इन भयानक बादलो में चमक-चमक कर विद्युत-बाला कह रही है, जैसलमेर के वीर पुरुषो की तलवारे अब म्यान से बाहर होनी चाहिये। (पानी गिरना प्रारम्भ होता है) लो अचानक मूसलाधार वर्षा प्रारम्भ हो गई। इसी तरह इस भूमि मे रक्त की वर्षा होगी। बरसो मेघ, जी भरकर बरसो—मै भी तुम्हारे स्वर में स्वर मिलाकर गाती हूँ—

[गाती है]

रण के घन घिर-घिर कर आए !
ये राजस्थानी तलवारें,
करती वीरों की मनुहारें,
बहने दो लोहू की धारें,
लाल लाल सागर भर जाए !
रण के घन घिर-घिरकर आए !

जो है अग्नि-पुत्र तूफ़ान
हार उन्होंने कभी न मानी,
यम से भिड़ जाने की ठानी,
मरकर भी न वीर मर पाए !
रण के घन घिर-घिरकर आए !
जन्म-भूमि का मान न जाए,
रजपूतों की आन न जाए,
बलि-वेदी पर होड़ लगाए,
चले, चढ़े, चढ़ कर मुसकाए !
रण के घन घिर-घिरकर आए !

[महाकाल का हाथ में खून से सनी नंगी तलवार लिये भयंकर भेष में प्रवेश]

महाकाल—ताडवी !

तांडवी—भैया महाकाल ! यह कैसा भयानक भष !

महाकाल—भयानक ! नही बहन, वीरों का यही तो सौन्दर्य है। वर्षों बाद मेरी तलवार ने छक-छककर खून पिया है।

तांडवी—बात क्या है, भैया ! तुम तो कह गए थे राजमहल मे नाटक देखने जा रहा हूँ।

महाकाल—हाँ-हाँ नाटक ही तो ! खेल-खेल मे हमने पाँच सौ सिपाहियो को मौत के घाट उतार दिया।

तांडवी—ओह ! मै तो स्तम्भित हो गई थी—तो तुम्हारी तलवार पर झूठा खून है।

महाकाल—तो तू अपने भैया को धोखेबाज़ समझती है ! झूठा खून ! महाकाल झूठे खेल नही खेलता। इस तलवार पर देश के शत्रुओ के हृदय का गाढा-गाढ़ा ताज़ा रक्त है !

तांडवी—कल तक तो तुमने······

महाकाल—हाँ, कल तक आसमान साफ था। अचानक बादल

आये—आँधी उठी, बिजलियों की तरह वीरों की तलवारें म्यानों के बाहर हुईं—खून की अजस्र धारा बह निकली।

तांडवी—लेकिन भैया, बादल तो अभी घिरे हुए हैं।

महाकाल—हाँ, बादल घिरे हुए हैं। मेरी तलवार कहती है अभी मैं और प्यासी हूँ। मेरी तलवार पर लगा हुआ ख़ून भी कहता है मैं प्यासा हूँ।

तांडवी—हः-हः खून भी प्यासा है। कल तुम कहोगे पानी भी प्यासा है।

महाकाल—निश्चय ही बहन, खून भी—प्यास से तडपता है और पानी को भी प्यास लगती है। यह बात किसी पानीदार आदमी से पूछ। तू अपने ही जी से पूछ, तू क्या कम पानीदार है ?

तांडवी—रहने दो अपना पागलपन। मुझे यह बताओ तुम मेरे लिए क्या लाये हो ?

महाकाल—लाया हूँ—यही रक्त की प्यास, रक्त-भरे मेघ और भविष्य के आँगन में भरा हुआ रक्त का समुद्र। चल, बाहर चल, तुझे दिखाऊँ मैं क्या लाया हूँ ?

[**हाथ पकड़कर तांडवी को ले जाता है।**]

[**पट-परिवर्तन**]

चौथा दृश्य

[स्थान—दिल्ली के राजमहल की वाटिका। अलाउद्दीन खिलजी चहलक़दमी कर रहा है। महबूब भी साथ है। समय—प्रभात]

अलाउद्दीन—महबूब, इस अलाउद्दीन ने अपने जीवन मे एक क्षण के लिए भी विश्राम नही लिया ! ससार समझता है, मै नृशंस पशु हूँ। पशु को भी प्रेम की चाह होती है—लेकिन मुझे सिर्फ़ ख़ून की प्यास है। दुनिया क्या जाने कि प्रेम की प्यास मेरे प्राणो को सुखा रही है। मुझे अपनी पिछली जीते भी हार जान पड़ती है।

महबूब—सर पर राजमुकुट धारण करने पर मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन तो समाप्त हो जाता है, बादशाह सलामत ! बड़े बनने वाले की सब से बड़ी जीत तो यही है कि वह अपनी इच्छाओ पर काबू पा सके।

अलाउद्दीन—मै अपनी सारी इच्छाओ पर काबू पा सकता हूँ—लेकिन हिन्दुस्तान को—सारे हिन्दुस्तान को अपने झण्डे के नीचे ले आने की मेरी आकांक्षा मुझे कहाँ-कहाँ उड़ाये फिरेगी यह नही जानता ! मै सारे हिन्दुस्तान को अपना बनाना चाहता हूँ !

महबूब—वह आप बहुत आसानी से बना सकते है।

अलाउद्दीन—कैसे ?

महबूब—खुद उसके बनकर। हिन्दुस्तान ने तो हमेशा ही परदेशियो को भी अपना समझा—मा की तरह उसने हम विदेशियों पर भी अपने स्नेह का अंचल फैलाया, लेकिन हमने भूल की।

अलाउद्दीन—क्या भूल की, महबूब ?

महबूब—यही कि हम उसे अपनी मा न समझ पाए ! हमने जिसका दूध पिया—उसी की गर्दन पर तलवार चलाई।

अलाउद्दीन—अपने राज्य का विस्तार करना कौन नही चाहता, महबूब ?

महबूब—राज्य-विस्तार के भी अनेक तरीके होते है, जहाँपनाह ! एक दिन वह था जब इस देश की विजय-पताका दुनिया के हरेक कोने में फहराई थी—लेकिन यहाँ की तलवार के पहले यहाँ का ज्ञान—यहाँ का प्रेम—वहाँ पहुँच चुका था। तलवार के आगे सर झुकाने के पहले दुनिया ने यहाँ के विश्व-प्रेम और ब्रह्मज्ञान के आगे सर झुकाया था। क्या ही अच्छा हो अगर हम भी यहाँ दूध-पानी की तरह यहाँ के पूर्व-निवासियो के साथ हिल-मिल जाएँ !

अलाउद्दीन—महबूब, पुरानी दुनिया बहुत अच्छी थी। लेकिन अब यह एक सुन्दर सपना है। अब प्राचीन आदर्शों पर हम वर्तमान का प्रासाद नही खडा कर सकते। आज न यह हिन्दुस्तान पुराना हिन्दुस्तान रहा जब कि प्रेम ही इसका मूलमन्त्र था, न इसके निवासी आज स्वय ही एक है। ब्राह्मण शूद्र को छूना भी पाप समझता है—ऐसी है इस देश की स्थिति। ये आज अपने अंगो से भी प्रेम नही रखते—ये हम परायों से प्रेम क्या करेंगे ? ऐसे लोगों पर विदेशी राज्य स्थापित न हो—यही आश्चर्य की बात है। (यहाँ पर व्यक्तिगत वीरता, पराक्रम, पाण्डित्य, प्रतिभा और प्रेम पा सकते हैं—किन्तु सामूहिक रूप से—ये सर्वथा जर्जर हैं—हम कैसे इनके साथ एक हो ?)

महबूब—लेकिन अलग रहकर क्या हम इस देश को शक्ति-संपन्न बना सकेंगे ? सोचिए जहाँपनाह, बाहर के सिपाहियों के ज़ोर पर हमारा शासन कैसे चलेगा ?

अलाउद्दीन—चल जो रहा हैं।

महबूब—ऐसा दिखाई देता है। लेकिन इसमें सचाई नही हैं। हमारे शासन में स्थायित्व क्या है ? यहाँ प्रजा जिस दिन हमें अपना मान लेगी उसी दिन हम समझेंगे—हमारी जीत हुई है। आज हम एक राज्य जीतते हैं दूसरे दिन वहाँ बगावत हो जाती है। हमारे अपने सूबेदार अपनी अलग नवाबी के सपने देखते रहते है। यह है हमारी राजनीतिक स्थिति !

[रहमान का प्रवेश और कोर्निश करना]

अलाउद्दीन—कब आए रहमान ?

रहमान—अभी लौटा हूँ ।

अलाउद्दीन—कुशल तो है !

रहमान—जी हाँ, ज़िन्दा लौट आया हूँ यही कुशल है ?

अलाउद्दीन—क्यो क्या हुआ ?

रहमान—एक मौत की आँधी चली, जिसने हमारी सेना के पाँच सौ सिपाहियों को जीवन के बोझ से छुटकारा दे दिया ।

अलाउद्दीन—साफ कहो—हमारा खज़ाना आ गया ।

रहमान—जी नही, उसे लुटेरो ने लूट लिया ।

अलाउद्दीन—लूट लिया, और तुम यहाँ ज़िन्दा लौट आए ।

रहमान—इस समाचार को आपके पास तक पहुँचाने के लिए किसी को तो आना ही था, इसलिए यह निर्लज्ज लौट ही आया । मुझे अफसोस है, जहाँपनाह ! हम लोग पचनद नदी के किनारे ठहरे हुए थे, लुटेरे भी साहूकारो का रूप रखकर हमारे पास ही डेरा डालकर ठहर गए ।

महबूब—फिर ?

रहमान—फिर रात्रि के समय अचानक वह तलवारे लेकर हम पर टूट पड़े—हमारे पाँच सौ सिपाहियो को उन्होने ऐसे काट डाला जैसे बाजरे का खेत काटा जाता है । सारा ख़जाना लूटकर चलते बने ।

अलाउद्दीन—इतना साहस ! और महबूब तुम कहते हो इनसे मैं प्रेम करूँ ! असभव ! हिन्दुस्तान के हरेक गढ की चट्टाने अलाउद्दीन की टेढ़ी निगाहो से काँप उठती है । यह कौन दो सिर का पैदा हुआ है, जिसने मेरे विरुद्ध सर उठाया है ?

रहमान—एक व्यक्ति को मैं पहचान सका हूँ ।

अलाउद्दीन—कौन है वह, शीघ्र बतलाओ ।

रहमान—भाई साहब के सामने नही बता सकता ।

महबूब—ऐसी कौन सी बात है जो मेरे सामने कहने मे डरते हो,

रहमान ! हम दोनो ने एक ही मा का दूध पिया है—आज यह भेद-भाव की दीवार क्यो खडी कर रहे हो। (रहमान चुप रहता है।) अच्छा, तो मैं जाता हूँ। [प्रस्थान]

अलाउद्दीन—हाँ, बताओ वह कौन था ?

रहमान—वह व्यक्ति था—हमारे बड़े भाई साहब का अनन्य हृदय-मित्र रत्नसिंह—जैसलमेर का राजकुमार !

अलाउद्दीन—(**मुट्ठी भींचकर**) वह शतरज का खिलाडी। उस छोटे-से पहाडी किले के स्वामी का इतना दुस्साहस !

रहमान—राजपूत हमेशा अपने से अधिक बली से ही लोहा लेते है। यह तो उनका स्वभाव है।

अलाउद्दीन—अलाउद्दीन उनके घमण्ड को चकनाचूर करना जानता है। मै इसका बदला लूंगा। मै जैसलमेर के घमण्ड के किले को मिट्टी में मिला हुआ देखूंगा।

रहमान—आप से मुसलमानों को यही आशा है। जी तो चाहता था उन लुटेरों से अन्तिम क्षण तक युद्ध करता हुआ मै मर जाता—लेकिन मै आपकी अधिक सेवा करना चाहता था। मै जानता था कि यह छोटी-सी चिनगारी भयानक ज्वाला बनेगी, उस समय मुझे आपकी अधिक सेवा करने का अवसर मिलेगा।

अलाउद्दीन—निश्चय ही ! तुमने दिल्ली के झण्डे को दाग़ लगाया है और तुम्हें ही उसे धोना पडेगा।

रहमान—मै प्रस्तुत हूँ। आज्ञा दीजिए, कल ही युद्ध की घोषणा कर दी जावे।

अलाउद्दीन—नही, अभी नही ! अलाउद्दीन ने कोई काम बिना सोचे नही किया। कभी क्रोध मे आकर विवेक को तिलांजली नही दी। मै महबूब को अवसर दूंगा कि वह अपने मित्र को मेरे न्यायालय में उपस्थित करे। चलो, अब हम यहाँ से चलें। [दोनों का प्रस्थान]

[पट-परिवर्तन]

पाँचवाँ दृश्य

[जैसलमेर के महाराव जीतसिंह, उनका ज्येष्ठ राजकुमार मूलराज और छोटा राजकुमार रत्नसिंह परस्पर बातचीत कर रहे है। जीतसिंह जी काफी वृद्ध है, किन्तु उनकी आँखो में चमक, चाल में दर्प और वाणी में गर्जन है। दोनों राजकुमार राजपूती साहस के प्रतीक है। स्थान—जैसलमेर के राजभवन मे महाराव जीतसिंह का निजी कक्ष।]

जीतसिंह—मूलराज, मै चाहता हूँ, हमारे गढ मे इतना अन्न एकत्रित कर लिया जाए जिससे दो वर्ष तक हमारी सेना और नागरिकों का पालन किया जा सके।

मूलराज—किसलिये, पिता जी ?

रत्नसिंह—क्या देश मे दुर्भिक्ष पडने वाला है ?

जीतसिंह—दुर्भिक्ष तो यहाँ के लिए रोज की बात है, रत्नसिंह ! जब तक राजपूत की तलवार में धार है तब तक राजपूत दुर्भिक्ष से नही डरता।

मूलराज—फिर पिता जी !

जीतसिंह—कर्मयोगी भगवान् कृष्ण का वशज, जैसलमेर का राजवश, भविष्य के प्रति आँख मूंदकर नही रह सकता। वह विनाश से लोहा लेने को प्रत्येक क्षण प्रस्तुत रहेगा।

रत्नसिंह—लेकिन, पिता जी ! हमारी तो किसी से शत्रुता नही है।

जीतसिंह—फिर भी युद्ध तो छिड सकता है। जब तक स्वार्थ और अभिमान जीवित है, हिसा का ताण्डव नही रुक सकता। किस क्षण, किस ओर विनाश का डमरू बज उठे, इसे कौन जानता है ?

मूलराज—व्यर्थ ही चितित होने से लाभ ?

जीतसिंह—शत्रु हमें अप्रस्तुत क्यों पावे ? मान लिया कि आज हमारी शक्ति क्षाण हो गई है, हमारी ही बात क्या, सम्पूर्ण क्षत्रिय-शक्ति

का दीपक आज अस्त होता नज़र आ रहा है। एक महासूर्य—अनन्त टुकड़ियो में बंटकर तेजहीन हो चला है। फिर भी हम यह नही भूल सकते कि हम इस देश के पराक्रम के प्रतिनिधि है। हमे शत्रु को भारतीय बल का परिचय देना ही पड़ेगा।

रत्नसिह—किन्तु शत्रु है कौन ?

जीतसिह—शतरज के खेल में बहुत आगे की सोच लेने वाले रत्नसिह, क्या तुम राजनीति के दान में खेली जाने वाली बाजी को नही समझ सकते ? उस अँधेरी रात मे—ब सते हुए पानी मे—बिजलियो की चमक और बादलो की गर्जन नीचे तुम एक अज्ञात कोष को लूटकर लाए थे, उसी दिन जीतसिह ने समझ लिया था कि महाकाली ने अपना खप्पर जैसलमेर वीरो के आगे बढाया है; उसे रक्त से भर ही देना होगा।

रत्नसिह—ऐसी लूट तो हम आए दिन करते रहते है—और करना आवश्यक भी हो जाता है अन्यथा जहाँ धरती माता कृपण है वहाँ धरती के पुत्र अपना पालन कैसे कर पावें ? आपने पहले तो कभी ऐसे दुस्साहस पर हमें रोका नही।

जीतसिह—नही रोका, क्योंकि मै मानता हूँ कि राजपूत की तलवार को जंग नही लगने देना चाहिए। तुमने जो किया उसके लिए दोषी मैं हूँ, किन्तु अब भावी विनाश-लीला मे अपना अभिनय सफलतापूर्वक निभाने की तैयारी तो करनी चाहिए।

[इस समय एक सैनिक आता है, और महारावल को नियमानुसार नमन् कर एक पत्र देता है, और चला जाता है। महारावल मन-ही-मन पत्र पढ़ते है।]

जीतसिह—देखो, तुम्हे सम्भवत नही मालूम कि आज दिल्ली से राजदूत आया था—वह मुझसे मिलना चाहता था और बादशाह अलाउद्दीन का यह पत्र मुझे देना चाहता था।

मूलराज—तो उसकी आप से भेट हुई ?

जीतसिंह—नही, मैने उससे यह पत्र मँगवा लिया है। पढ़ो इसे।

[मूलराज और रत्नसिंह पत्र पढ़ते है।]

जीतसिंह—मै समझ गया कि वह खज़ाना सम्राट् अलाउद्दीन का था।

मूलराज—एक तरह हमसे बहुत बडा अपराध हो गया।

रत्नसिंह—पिता जी! मै अपने अपराध का दण्ड भुगतने के लिए अलाउद्दीन के सामने उपस्थित हो जाऊँगा!

जीतसिंह—तुम रत्नसिंह—मेरे पुत्र होकर ऐसी बात अपने मुँह से निकालते हो! जिस दिन जैसलमेर के समस्त वीरो का खून पानी हो जावेगा, उस दिन यहाँ के राजपूतो को ऐसे अपराधो के लिए किसी के आगे क्षमा-याचना या दण्ड के लिए खडा होना पडेगा। समझे, त्नसिह!

रत्नसिंह—लेकिन पिता जी—एक-दो व्यक्तियो के दुस्साहस का दण्ड सारे देश को देना उचित है क्या?

जीतसिंह—दुस्साहस! तुम इसे दुस्साहस कहते हो! दुस्साहस और अन्याय तो उन्होने किया है, जिन्होने हमारे देश के हरे-भरे प्रान्तों पर अपना अधिकार करके हमे इस मरुभूमि मे रहने को विवश किया है, जहाँ का आकाश पानी नही देता, जहाँ की भूमि अन्न नही देती। फिर क्यो न हम उनका धन लूटे जो अपनी आवश्यकताओ से अधिक द्रव्य जमा किए बैठे है।

मूलराज—हम तो यह चाहते है, कि किसी प्रकार यह रक्तपात रोका जाता? आप वृद्ध है—और प्रजा बहुत निर्धन है—आपको इस आयु मे युद्ध की चिन्ता और प्रजा को असह्य कष्ट! दो ही बाते है, जो हमारे क्षत्रियत्व के आवेश को विचार और विवेक के चरणो पर झुका रही है। आपको हमारा मोह है। इसलिए आप हमे दिल्ली के दरबार मे नही जाने देते।

जीतसिंह—मोह! क्षत्रिय को मोह! असम्भव! तुम मेरी आँखो

के तारे हो—फिर भी मै तुम्हे सदा युद्धभूमि मे भेजने को प्रस्तुत रहता हूँ। किन्तु, जिस आँच मे तुम अकेले जलना चाहते हो—उसमे तुम्हारा पिता भी जलेगा। इस युद्ध का परिणाम मै जानता हूँ और उसके लिए मै तैयार हूँ। भगवान् कृष्ण ने अपनी आँखो के आगे अपने स्वजनों का सर्वनाश देखा था। उन्हे अनाचारी बनने देने की अपेक्षा उनका विनाश उन्होंने पसन्द किया था। मै उन्ही का वशज हूँ, मै भी आज अपने सर्वस्व की आहुति देने को प्रस्तुत हुआ हूँ।

रत्नसिंह—क्या हम अनाचारी है? हमारे कार्य से दुखी होकर तो आप ऐसा निश्चय नही कर रहे?

जीतसिंह—नही बेटा, तुमने हमारे कुल को उज्ज्वल किया है। यह दिन एक बार आना था। तुमने उसे जरा जल्दी बुला लिया है। यादव वश के ही वशज आर्य-धर्म को छोडकर सिधुनद के पार ईरान तक फैले हुए है। वे ही आज इस देश पर विदेशी बनकर आए है—हमे उन्ही से मुकाबला करना है।

रत्नसिंह—क्या हम उन्हे यह नही समझा सकते कि वे हमारे है।

जीतसिंह—स्वार्थ ने उनकी बुद्धि हर ली है। वे अतीत को भूल गये है। वर्तमान ने उन्हें मदान्ध कर दिया है। अब तो तलवार ही उनको प्रकाश दे सकती है। यह युद्ध अनिवार्य है। इसे कोई नही रोक सकता! चलो—हमे तुरन्त सैन्य-संगठन और धन-संग्रह का प्रबन्ध करना चाहिए।

[सब का प्रस्थान]

[पट-परिवर्तन]

छठा दृश्य

[महबूब की दस वर्षीया पुत्री अख़्तरी घर के सामने वाले बगीचे में एक गुड्डे को एक जगह खड़ा कर रही है। गुड्डा सिपाही की पोशाक में है। उसके हाथ में एक लकड़ी की तलवार देती हुई गाती है।]

अख़्तरी—(गान)

बाँके वीरों के सरदार।
कहाँ चले लेकर तलवार ?
आई कल दुलहिन अलबेली,
छोड़ चले तुम उसे अकेली,
हँसतीं उस पर सभी सहेली,
किया न उसको दो दिन प्यार !
बाँके वीरो के सरदार !
कहाँ चले लेकर तलवार ?
धरती लोहू से रँग दोगे,
शीश हज़ारो तुम काटोगे,
कितनों का सुहाग हर लोगे,
है जुल्मो का नही शुमार !
बाँके वीरो के सरदार !
कहाँ चले लेकर तलवार ?
सच कहती हूँ कहना मानो,
यहाँ प्रीत से रहना जानो,
मत तीखी तलवारे तानो,
लड़ना-भिड़ना है बेकार !
बाँके वीरों के सरदार !
कहाँ चले लेकर तलवार ?

[अख्तरी गीत का अंतिम पद गा रही है कि उसकी माँ अनवरी बेगम आती है और चुपचाप पीछे खड़ी होकर उसका गाना सुनती रहती है ।]

अनवरी—क्यो री, तू अपने गुड्डे को कायर बना रही है । पुरुष जन्मा ही इसलिए हैं कि वह दुनिया मे अपने बल-विक्रम का डका बजाता फिरे ।

अख्तरी—क्यो मा, सच बताओ, क्या वास्तव मे दूसरे की जान लेना कोई अच्छा काम है ?

अनवरी—अच्छा-बुरा मै नही जानती, इतना कह सकती हूँ कि जिन स्त्रियो के पति युद्ध-भूमि मे पौरुष प्रदर्शित करते है वे अपने भाग्य पर अभिमान करती हैं । जिन माताओ के पुत्र देश की मान-रक्षा के लिए तलवार पकडते है, वे समझती है, उनका माँ होना धन्य हुआ ।

अख्तरी—इसलिए कि वे दूसरी माताओ की गोद सूनी करते है ? मै लड़ाई को बहुत बुरा काम समझती हूँ मा ।

अनवरी—मान लो अख्तरी, कोई लड़का तेरा गुड्डा छीनने लगे तो तू क्या करेगी ?

अख्तरी—मै उससे कहूँगी कि आओ हम दोनो मिलकर इससे खेले ।

अनवरी—लेकिन अगर वह कहे मै अकेला ही खेलूँगा, तुम्हे नही खेलने दूंगा तो !

अख्तरी—तो मै गुड्डा लेकर भाग जाऊँगी ?

अनवरी—लेकिन वह भागने मे तुझ से तेज़ हुआ, और अगर उसने तुझे पकड़ लिया तो ?

अख्तरी—तो मै उसे काट खाऊँगी ।

अनवरी—बस, यही तो लडाई है । ये बादशाह लोग—दूसरो की पृथ्वी और सम्पत्ति छीनने के लिए अपनी सेना लेकर आक्रमण कर देते हैं । चाहे कोई दुर्बल हो, चाहे बलवान, अपनी चीज सभी को प्यारी

होती है। सभी अपनी चीज़ों की रक्षा करना चाहते है। इसीलिए लड़ाई होती है, बेटी!

अख्तरी—लेकिन कोई दूसरे की चीज क्यो लेना चाहता है? हमारा मकान बादशाह के महल से छोटा है तो क्या हमे उनका महल उनसे छीन लेना चाहिए?

अनवरी—बेटी, छोटो के दिलो मे बडो की चीजो को छीनने की इच्छा कम होती है, ये तो बडे आदमी ही है जो छोटो की छोटी-छोटी झोपडियाँ मिटाकर बड़े-बड़े महल बनाना चाहते है।

अख्तरी—क्या छोटे लोग बडो के महल नही गिराना चाहते? देखो अम्मी जान, जब मेरी कोई सहेली मुझ से बडा घरौंदा बनाती है तो मै तुरन्त लात मारकर उसे गिरा देती हूँ।

अनवरी—ठीक है, बेटी! किसी भी बात मे किसी से छोटा होकर रहना मनुष्य को पसन्द नही है। दुर्बल और साधनहीन होने के कारण छोटे कुछ नही कर पाते, लेकिन जिस दिन ये छोटे एक साथ मिलकर खडे हो जाते है तो बडे-बड़े साम्राज्यो को मिटा डालते है।

[महबूब का प्रवेश]

अख्तरी—अब्बाजान!

[महबूब से चिपट जाती है। महबूब उठाकर उसे चूमता है, फिर ज़मीन पर उतार देता है।]

महबूब—जाओ बेटी, अब तुम खेलो।

अख्तरी—आप भी मेरे साथ खेलिए न, अब्बाजान!

महबूब—मुझे एक बडा खेल खेलने जाना है।

अनवरी—आप क्या कह रहे है?

महबूब—यही अनवरी कि मै लडाई पर जा रहा हूँ। सैनिक के जीवन मे विश्राम नही। न उसकी कोई पत्नी है, न कोई उसका बच्चा है, न उसका कोई घर है। न जाने किस दिन उसका जीवन-दीपक बुझ जावे! सच पूछो तो मै इस बार मर जाना चाहता हूँ।

अनवरी—ऐसे अशुभ वाक्य न बोलो, प्रियतम ! सग्राम आपके लिए कोई नई बात नही है। विजय आपकी प्रतीक्षा कर रही है ।

महबूब—लेकिन इस बार मै जीत गया तो यह मेरी सबसे बड़ी हार होगी ।

अनवरी—क्यो ?

महबूब—इसलिए कि मेरे सेनापतित्व मे जैसलमेर पर आक्रमण होगा। मेरे मित्र शतरज के खिलाडी रत्नसिंह के विरुद्ध मुझे तलवार पकडनी होगी ! मेरा दिल डूबा जा रहा है। मै प्रेम और मित्रता का खून करने चला हूँ।

अनवरी—बड़ी कडी परीक्षा बादशाह ने ली है ।

महबूब—हाँ ! तुम तो जानती हो, मै रत्नसिह को अपने प्राणो से अधिक मानता हूँ। एक तरफ मित्रता है, दूसरी तरफ अपने सम्राट् के प्रति कर्तव्य-पालन की भावना। दो तलवारे मुझे दो तरफ से छेद रही है ।

अख्तरी—काका रत्नसिह जी से आप लड़ेगे, जिनके उस सुन्दर पुत्र गिरिसिंह के हाथ मे मैने राखी बाँधी थी।

महबूब—हाँ बेटी, मै तेरे काका—रत्नसिंह—से लडूंगा। आज मै तेरे भाई के सर पर से उसके पिता का स्नेह-भरा हाथ सदा के लिए उठाने जा रहा हूँ।

अख्तरी—क्यो जाते है आप ? न जाइए।

महबूब—यह कैसे हो सकता है, मै नौकर हूँ। नौकर की आत्मा स्वामी के हाथों बिक जाती है, बेटी ! स्वामी से विश्वासघात करना बड़ा पाप है।

अख्तरी—पिता जी, किसे पाप कहना चाहिए, किसे पुण्य, इसे शायद अभी दुनिया निश्चित नही कर सकी। पिता का हुक्म मानना सतान का धर्म है। लेकिन यदि आप मुझ से कहें कि मैं सोते में गिरिसिंह का सिर काट डालूँ तो इस आज्ञा को न मानना पुण्य समझूँगी।

अनवरी—इस उम्र मे इतनी बात सोचना अच्छा नही है, बेटी! चलो, भीतर चले। चलिये प्रियतम, अच्छी तरह सोचकर अपने कर्तव्य का निश्चय कीजिए।

[सबका प्रस्थान]

[पट-परिवर्तन]

सातवाँ दृश्य

[अमावस्या की काली रात। काली के मन्दिर में मूलराज की पत्नी किरणमयी बाल फैलाए, मूर्ति के आगे हाथ जोड़कर खड़ी है।]

किरणमयी—मा, भवानी, इस भयानक काली रात मे—निराशा के घोर अन्धकार मे तुम्हारे ये तेजपूर्ण नेत्र आशा के दो नक्षत्रो की भाँति चमक रहे है। तुम्हारी यह लाल जिह्वा तुम्हारे अनुचरो को आदेश दे रही है—"लाओ—रक्त लाओ—पिलाओ जी भरकर पिलाओ।" और मा तुम्हारा खप्पर ससार के वीरो को चुनौती दे रहा है—"है कोई ऐसा वीर जो इसे भर दे!"

[रत्नसिंह पीछे से आकर घण्टा बजाता है। किरणमयी मुड़कर देखती है।]

रत्नसिंह—भाभी!

किरणमयी—हाँ देवर!

रत्नसिंह—इस अँधेरी रात मे अकेली—

किरणमयी—जानते हो रत्नसिह, जिसके अन्त.करण मे आदि-शक्ति काली का निवास है—उसके लिए कही अन्धकार नही है—वह कभी अकेली नहीं है। यह देखो (**कटार दिखाती है**) यह है क्षत्राणी की चिर सहचरी—दुर्गा की जिह्वा की भाँति रक्त की प्यासी।

रत्नसिंह—मै तुम्हारे इस स्वरूप को प्रणाम करता हूँ, भाभी! मै आया तो था इस प्रस्तर-प्रतिमा से आदेश लेने—किन्तु—ऐसा जान पड़ता है—जैसे तुम में यह प्रतिमा सजीव हो उठी है।

किरणमयी—तुम मुझे पत्थर बना रहे हो, देवर!

रत्नसिंह—नारी को कौन समझ पाया है—भाभी! उसके अनेक रूप है—वह कल्याणकारी अन्न-पूर्णा भी है—लक्ष्मी भी है—सरस्वती भी है, तो महाकाली, भैरवी, भयंकरा भी है! वह सुरसरि भी है,

तो ज्वालामुखी भी है! उसकी कोमलता की ओट में दृढता छुपी है—और दृढता के अन्तराल मे कोमलता!

किरणमयी—यह नारी-वन्दना छोडो और बताओ इस भयानक रात में देवरानी को अकेली छोडकर महाकाली से क्या आदेश लेने आए हो?

रत्नसिंह—देवी अन्तर्यामिनी है—वह स्वय समझ लेगी—मेरे अन्त.करण मे उसके शब्द स्वय गूँज उठेंगे।

किरणमयी—वे तो देवरानी के सुकुमार हाथों से सजाई हुई सुमन-शय्या पर भी सुनाई दे सकते थे। यहाँ क्यो आये—तुम आजकल इतने विक्षिप्त-से क्यो हो रहे हो?

रत्नसिंह—मेरे अपराध से सम्पूर्ण जैसलमेर का सर्वनाश होने जा रहा है—इसलिए भाभी! मै काली से पूछने आया था क्या सचमुच वह प्यासी है—अगर है तो क्या वह केवल रत्नसिंह का रक्त पीकर सन्तुष्ट नही हो सकती।

किरणमयी—तुम्हारा तात्पर्य क्या है?

रत्नसिंह—यही कि क्या मुझे अलाउद्दीन के सामने आत्म-समर्पण करके यह रक्तपात नही रोक लेना चाहिए?

किरणमयी—यह कायरता है, देवर!

रत्नसिंह—नही भाभी, यह बलिदान है।

किरणमयी—नही, यह आत्महत्या है! बलिदान देना है तो युद्ध-भूमि मे जाओ! वहाँ महाकाली ने अपना खप्पर फैला रखा है—उसमें शत्रु का और अपना रक्त भरो। हम क्षत्रियो का बलिदान तो ऐसा ही होता है, देवर! क्षत्रियो की मर्यादा के विरुद्ध आत्म-समर्पण करके तुम जैसलमेर के यश को कलकित न करना, रत्नसिंह!

रत्नसिंह—हमारी शक्ति क्षीण है—संख्या-बल······

किरणमयी—चिता न करो देवर! जब पुरुषों के हाथों में तलवार पकड़ने का बल न रहेगा तब नारियाँ शस्त्र उठावेंगी—जैसे देवो के

साहस छोड देने पर शक्ति ने असुरों से सग्राम किया था, और उन्हें पराजित किया था।

[पुरुष वेश में १५ वर्षीया राजकुमारी प्रभा का प्रवेश। वह शत्रुपक्ष के एक सैनिक को रस्सी से बांधे हुए है और उसे घसीटती ला रही है। सैनिक का मुख कपड़े से बन्द कर रखा है।]

प्रभा—आज तेरे रक्त से काली का खप्पर भरूँगी !

किरणमयी—कौन ? प्रभा। पुरुष-वेश में……

प्रभा—नही मा—सैनिक-वेश मे !

रत्नसिह—इसे क्यो बाँधा है ?

प्रभा—काका जी, मै और गिरिसिंह

[रत्नसिह का पुत्र गिरिसिह, जो १६ वर्ष का किशोर है, आता है।]

गिरिसिंह—नमस्कार पिता जी !

रत्नसिह—हाँ, तुम दोनो कहाँ से आ रहे थे ?

गिरिसिह—कुछ नही, पिताजी हम शिकार खेलने गए थे।

प्रभा—हॉ, चले तो थे सिह और सूअरो की तलाश में—मिल गया आदमी की खाल पहने हुए यह जानवर। न जाने क्यों यह किले के नीचे खडा था। हमने इसे सम्हलने का भी अवसर नही दिया—तुरन्त बॉध लिया।

रत्नसिह—शाबाश बेटा !

गिरिसिह—लेकिन पिता जी, इसमे अधिक पराक्रम प्रभा का ही है।

किरणमयी—मुझे आज इस बात की व्यथा नही रही कि मेरे कोई पुत्र नही है। क्षत्राणी जिस लिए पुत्र की कामना करती है—वह काम मेरी बेटी पूरा करेगी।

रत्नसिह—यह व्यक्ति कौन है ?

गिरिसिह—खोलें इसके मुंह का कपडा।

[गिरिसिह सैनिक के मुंह पर बंधे कपड़े को खोलता है।]

रत्नसिंह—तुम कौन हो ? सिपाही जान पडते हो। कही तुम्हे देखा है। सत्य बोलोगे तो तुम्हे प्राण-दान मिल सकेगा।

[सैनिक कुछ नहीं बोलता]

रत्नसिंह—क्या तुम्हारे पास जिह्वा नही है ?

सैनिक—लेकिन उस पर मोहर लगी हुई है।

रत्नसिंह—यह तलवार की नोक उस मोहर को तोड देगी।

[तलवार की नोक उसके सीने पर लगाता है।]

रत्नसिंह—बोलो, तुम किस लिए आए थे ?

सैनिक—पठान सैनिक अपने मालिक को धोखा नही दे सकता।

रत्नसिंह—तो चढादो इसका सिर भवानी के चरणों में! गिरिसिंह

गिरिसिंह—बहुत अच्छा पिता जी !

[बन्दी को पकड़कर मूर्ति के आगे ले जाता है। पठान अपना सिर झुका लेता है। गिरिसिंह तलवार तानता है।]

किरणमयी—रुको गिरि, जो शत्रु प्रतिरोध नही करता वीर पुरुष का हाथ उस पर वार नही करता। सैनिक! तुम वीर हो—जो मरने को प्रस्तुत हो, किन्तु स्वामी का भेद देने को तय्यार नही। मै तुम्हे प्राण-दान देती हूँ! किन्तु, दिल्ली और जैसलमेर के संघर्ष-काल मे तुम्हे जैसलमेर का बन्दी बनकर रहना पडेगा। चलो, अब हम गढ मे चले।

[सबका प्रस्थान]

[पट-परिवर्तन]

आठवाँ दृश्य

[स्थान—वन की एक पगडंडी । समय—प्रभात । तांडवी सर पर पानी का घड़ा रखे आ रही है । घड़े को नीचे रखकर विश्राम करने खड़ी रह जाती है ।]

तांडवी—ओहो थक गई ! ज़रा दम ले लूँ । कैसा कठिन और विषम जीवन है हम राजस्थानियो का । एक घडा पानी लाने के लिए मीलो चलना पड़ता है । एक वे है जिनके महलो में गुलाबजल की नहरें बहती है । यही तो है वह वैषम्य जिसने संसार की शाति भग कर रखी है ।

[महाकाल का प्रवेश]

महाकाल—उस अँधेरी रात के काले बादल—एक दिन प्रतिहिसा के अँगारे बरसावेंगे, यह मैं समझता था, किन्तु इतनी जल्दी ही महानाश की लपटे प्रज्वलित हो उठेंगी, इसकी मुझे कल्पना न थी ।

[बड़बड़ाता हुआ चला जा रहा है । उसका ध्यान तांडवी की ओर नहीं जाता]

तांडवी—भैया महाकाल !

महाकाल—ओह ! तू है । बहन ! यहाँ अकेली क्या कर रही है ?

तांडवी—कुछ नही भैया, पानी लेकर घर जा रही हूँ !

महाकाल—घर जा रही है, पगली ! अब यह छोटी-सी झोंपडी भी हमें छोड देनी पडेगी । एक-एक तिनका एकत्रित कर हमने जो घोंसला बनाया था—वह मनुष्य की हिसा-वृत्ति की भेंट हो जायगा, बहन !

तांडवी—तुम कहते क्या हो, भैया ?

महाकाल—कुछ नही, बहन, उधर देख—वे धूल के बादलों जैसे ज़मीन से उठकर आसमान की ओर बढ़ रहे है। वे बड़ी वेग से

हमारी ओर आ रहे हैं।

तांडवी—हाँ, सच तो कह रहे हो, महाकाल ! यह कैसा बवंडर है !

महाकाल—बवडर नही, बहन ! यह हिसा और स्वार्थ का तूफान है। यह शक्तिशालियो का शक्तिहीनों पर आक्रमण है, यह सामर्थ्य-वानों की स्वत्वहीनों को चुनौती है।

तांडवी—ऐसा जान पड़ता है—जैसे कोई सेना बढी चली आ रही है !

महाकाल—हाँ, बहन, दिल्ली के सम्राट् अलाउद्दीन ने जैसलमेर पर आक्रमण करने के लिए अपनी सेना भेजी है। असख्य सैन्य-दल है ! अभी हमसे बहुत दूर है—फिर भी कैसे धूल के बादल मँडरा रहे है ? सूर्य की किरणे इन बादलों में लाली भर रही है।

तांडवी—तुम्हारी आँखों में भी लाली छा रही है, भैया !

महाकाल—कुछ घडियों के बाद, जैसलमेर के प्रत्येक वीर की आँखो में लाली छा जायगी, ताडवी ! चिन्ता नही हम मुट्ठी भर सैनिक है, फिर भी हम अपनी मान-रक्षा के लिए यम से भी लोहा लेने को प्रस्तुत है।

तांडवी—चलो भैया, अब घर चले, देर होती है।

महाकाल—सचमुच देर हो रही है, ताडवी ! लेकिन अब घर जाना नही हो सकता। मुझे अभी जैसलमेर गढ में जाकर महारावल को सचेत करना है और फिर उसके बाद युद्ध-भूमि में जाकर खून की होली खेलनी है।

तांडवी—मैं तुम्हें योद्धाओ की मर्यादा के अनुसार युद्ध-भूमि में भेजूंगी ! आज है भैया-दोज ! घर पर रोली-चन्दन तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे है।

महाकाल—सैनिक का जीवन केवल एक मर्यादा जानता है और वह है उसका कर्त्तव्य। आज मुझे मेरे जैसलमेर के सिवा कुछ भी नज़र

नही आ रहा ! आज मेरी ताडवी जैसलमेर के प्रत्येक रजकण में व्याप्त हो गई है। रोली-चन्दन नही, बहन ! अब तो रक्त से तेरे भैया का अभिषेक होगा। यह तलवार तेरे ही हाथ की अँगुलियों का प्रतीक है—यह मेरा अभिषेक करेगी ! जब यह शत्रु के रक्त से नहावेगी—तब मै इसे सर से लगाऊँगा ! मुझे आशीर्वाद दे—और ला ज़रा थक गया हूँ, पानी पिला दे।

[**तांडवी घड़े में से पानी पिलाती है। पीछे से रत्नसिंह आकर खड़ा हो जाता है।**]

रत्नसिंह—थोड़ा पानी मुझे भी मिलेगा, तांडवी ?

तांडवी—क्यों नही, रत्नसिंह जी, जैसलमेर राज्य के प्रत्येक ताल और बावडी मे आपका ही पानी है। लीजिये।

[**महाकाल के बाद रत्नसिंह को पानी पिलाती है।**]

महाकाल—मै आपकी सेवा मे आने ही वाला था।

रत्नसिंह—क्यों ?

महाकाल—क्या आप अभी तक सो रहे हैं ?

रत्नसिंह—क्षत्रिय सोता हुआ भी नही सोता, महाकाल !

तांडवी—तो आपको उधर क्षितिज पर उठते हुए लाल बादल क्यो नजर नही आ रहे ?

रत्नसिंह—मै उन्ही बादलों से बातें करने आया हूँ—तांडवी !

महाकाल—अकेले ही ?

रत्नसिंह—नही, मेरा विश्वास मेरे साथ है। युद्ध के पहले इस सेना के सेनापति को गले लगाना चाहता हूँ !

ांडवी—यह आप क्या कहते हैं, राजकुमार ! वह शत्रु है।

रत्नसिंह—मुझे शत्रु की मनुष्यता पर भरोसा है। मैंने उसके साथ सैकड़ो बार शतरज की बाजियाँ हारी-जीती है। मै अपने मित्र महबूब को जानता हूँ। वह युद्धभूमि और प्रेम-भवन दोनों स्थानों में पूरा ईमानदार है।

[**सहसा अनेक सशस्त्र सिपाही आकर इन तीनों को घेर लेते है।**]

महाकाल—(**तलवार खींचकर**) सावधान ! महाकाल की तलवार के अक्षुण्ण रहते, राजकुमार पर कोई हाथ न उठा सकेगा ।

तांडवी—(**लपककर एक सैनिक की तलवार छीन लेती है और तानकर खड़ी हो जाती है**) कायरो ! विश्वासघात का उत्तर देना हमे आता है ।

[**महबूब का प्रवेश**]

महबूब—(**सिपाहियों से**) यह क्या है ? तुम इसलिए नही आए हो कि हरेक राहगीर पर आक्रमण करो !

एक सैनिक—ये राजकुमार रत्नसिंह...

महबूब—हाँ, ये राजकुमार रत्नसिंह है, लेकिन यहाँ नही राजमहल में या युद्ध-भूमि में । जाओ, तुम अपने डेरे पर जाओ !

[**सैनिक चले जाते है**]

रत्नसिंह—आओ मेरे शतरंज के खिलाडी !

[**दानों गले मिलते है**]

तांडवी—इन लाल बादलों के पीछे भी प्रेम छुपा हुआ था, यह मैं नहीं जानती थी ।

महबूब—युद्धभूमि में तलवारें मिलाने वाले एकात में हृदय भी मिला सकते है, बहन ! संसार में केवल हिंसा की आग ही होती, स्नेह का जल न होता तो यह कभी का भस्म हो जाता ।

रत्नसिंह—मेरे साथ में गढ में चलते हो, महबूब ! तुम से बहुत-सी बातें करनी है ।

महबूब—मुझे चलने मे कोई आपत्ति नही, लेकिन बादशाह के गुप्तचर न जाने क्या अर्थ लगावेंगे–इसलिए थोड़ी देर यही बैठकर...

महाकाल—यहाँ क्यों पास ही हमारी कुटिया है, आइए !

रत्नसिंह—हाँ-हाँ, चलो । ये मेरे विश्वस्त सैनिक है । यह है महाकाल और यह इनकी बहन ताडवी । बिलकुल नाम के अनुरूप इनके काम ह । मेरा बस होता तो इसे भारत का सम्राट् बना देता ।

महाकाल—क्यो कांटो में घसीटते हो, राजकुमार ! हम तो देश के तुच्छ सेवक है। हमने जीवन मे केवल एक बात सीखी है—वह यही कि मौत से न डरना। प्राणो में एक ही लालसा पाली है वह यही कि अपने देश के मान के लिए प्राण देना।

तांडवी—चलिये न ! आज भैया दोज है ! आज मै एक नही तीन भाइयों के टीका लगाऊँगी।

महबूब—तब तो मै आज बडा सौभाग्यशाली हूँ ! चलो, फिर तो जल्दी चलो ! **(तांडवी घड़ा उठाती है)**

महबूब—यह बोझ भी तुम उठाओगी !

तांडवी—गरीबों पर अनेक बोझ लदे हुए है, सेनापति ! किन्तु वे दया की भीख नही माँगते। चाहे तो स्वाभिमान को बेचकर वे बोझ को हल्का कर सकते है किन्तु ऐसे हलके होने से तो मृत्यु श्रेयस्कर है। चलिये—देर न कीजिये।

[सब का प्रस्थान]

[पट-परिवर्तन]

नवाँ दृश्य

[स्थान—जैसलमेर का गढ़। एक दीवार के सहारे महारावल जीत-सिह खड़े है। कुछ सैनिक बड़े-बड़े पत्थरो के टुकड़े लाकर दीवार के सहारे रखते जा रहे है।]

जीतसिह—ठीक है, इसी तरह गढ की दीवार के किनारे-किनारे पत्थरो के बडे-बडे टुकडो का ढेर लगा दो। जब शत्रु-सेना निकट आ जावे तो उस पर पत्थरो की वर्षा करो। हमारे तो यही तोप के गोले है।

[पत्थर ढोने वालों का प्रस्थान। तोप की आवाज़। महाकाल का प्रवेश और महारावल जीतसिह के चरणो में प्रणाम करना]

जीतसिह—तुम्हारा नाम अमर हो, महाकाल!

महाकाल—महारावलजी, आप क्यो इतना कष्ट करते है? हम लोग शत्रु से भुगत लेगे। आप युवक-शक्ति पर विश्वास रखे।

जीतसिह—वह तो मुझे है ही, किन्तु तुमने मुझे बूढा कैसे समझ लिया! राजपूत की अन्तिम साँस मे भी जवानी की आँधी होती है, महाकाल! मुझे स्वर्ण-अवसर मिला है, क्योंकि मेरे जीवन की सन्ध्या भी युद्धभूमि मे बीतेगी। मै सूर्य के समान दिशाओ को लाल करता हुआ ससार से विदा लूंगा।

[फिर तोप की आवाज़ आती है]

महाकाल—शत्रु की सेना गढ के बहुत निकट आ गई है। गढ को ढहाने के लिए सभी उपकरण जुटाकर ये आए हैं। हमे चाहिए कि हम तुरंत खुले मैदान में उनसे लोहा लें।

जीतसिह—युद्ध में केवल उत्साह से ही विजय प्राप्त नही होती। धैर्य और विवेक की भी आवश्यकता होती है, महाकाल! अपार सेना के सामने तुम्हारी थोड़ी सी तलवारे कैसे जीतेंगी?

महाकाल—आपके आशीर्वाद से हम प्राणाहुति देकर भी शत्रु को

परास्त करेगे ! गढ के भीतर रहकर हमारी तलवार की प्यास नही बुझ पाती, महारावल !

[पुरुष सैनिक के भेष मे प्रभा का प्रवेश ! उसके पीछे गिरिसिंह भी है। दोनों महारावल जीतसिंह के चरणों में प्रणाम करते हैं। महारावल दोनों के सर पर हाथ रखते हैं।]

जीतसिंह—वास्तव मे आज आँखें तृप्त हुई ! कहो गिरिसिंह, तुम्हे अपनी बहन का कौन सा वेश अच्छा लगता है, जब यह लहँगा और चूनरी पहनती है तब, या जब सैनिक का साज सजती है तब ?

गिरिसिंह—मुझे तो बहन के हाथ मे चूडियाँ ही अच्छी लगती है—तलवार तो है ही पुरुषो के लिए।

प्रभा—भया, तुमने महाकाली की मूर्ति के आगे अनेक बार सिर झुकाया है—क्या उसके हाथ मे लम्बी तलवार अच्छी नही लगती।

गिरिसिंह—उसे प्यार करने को जी नही चाहता, बहन ! जब तुम तलवार पकड़ती हो तो ऐसा जान पडता है जैसे तुम्हे अपने भाई की शक्ति पर भरोसा नही रहा। हमे युद्ध-भूमि के बाद एक घर की भी आवश्यकता है, बहन ! जब घर के सभी स्त्री-पुरुष युद्ध से थक जायेगे तो दूसरे दिन लड़ने को बल कौन देगा ?

जीतसिंह—तुम ठीक कहते हो गिरिसिंह—नारी को तलवार तभी पकड़नी चाहिए जब पुरुष-शक्ति हार चुके, जैसे देवताओ के हारने पर दुर्गा ने असि धारण की थी।

प्रभा—लेकिन स्त्रियों को शस्त्र पकड़ना आना चाहिए, बाबा जी !

जीतसिंह—तभी तो मैं तुम्हे इस भेष मे देखकर खुश हुआ हूँ, बेटी ! आत्म-रक्षा के लिए सभी को शस्त्र पकड़ना आना चाहिए।

[एक ओर से दीवार गिरने की आवाज़ आती है]

जीतसिंह—जान पड़ता है—उस मोर्चे पर शत्रु का आक्रमण प्रबल हो रहा है। चलो महाकाल, हम उधर चले।

[महाकाल और महारावल जीतसिंह का प्रस्थान]

गिरिसिंह—क्यो प्रभा बहन, तुम्हे मेरी बात बुरी लगी ?

प्रभा—पुरुष स्वार्थी है, भैया ! वह स्त्री को दुर्बल रखना चाहता है—वह चाहता है कि नारी में अपने पैरो पर खड़े होने का बल ही न आवे। नारी उसके हाथ का खिलौना बनी रहे।

[तांडवी का सन्यासिनी के वेश में हाथ में त्रिशूल लिये प्रवेश]

तांडवी—(गाती है)

जागो जागो !
जागो ओ सोने वालो !
रवि की किरणों की लाली,
कहती है होश सम्हालो।
अरि की आंखों की लाली,
कहती है शस्त्र उठा लो॥
जागो जागो !
जागो ओ सोने वालो !
जननी का वैभव-गौरव
मिटने से, वीर बचालो।
युग-युग से जो प्यासी है,
उस असि की प्यास बुझालो।
जागो जागो !
जागो ओ सोने वालो !
मा तुम्हें पुकार रही है,
सब रण के साज सजा लो।
बलिदान-राह के राही,
अमरों में नाम लिखा लो॥
जागो जागो !
जागो ओ सोने वालो !

प्रभा—यह कौन सा वेश है, भुआ जी ?

ताडवी—इसी वेश में देश के सोते प्राणो को जगा देने की शक्ति है प्रभा ! देश के कोने-कोने मे घूमकर सैन्य-सग्रह करने का कार्य ताडवी ने अपने ऊपर लिया है। उस कार्य मे यह वेश सहायता देगा। राजकुमारी ! मुझे मा की माला के लिए सिरों के फूल एकत्रित करने है।

[**महाकाल का सहारा लिये हुए जीतसिंह का प्रवेश। उनकी छाती में एक तीर चुभा हुआ है—जिसे वह हाथ से निकालने का यत्न करते आ रहे हे। दूसरी ओर से रत्नसिंह और मूलराज का प्रवेश**]

मूलराज—पिता जी !

रत्नसिंह—यह किस दुष्ट का कार्य है ?

[**मूलराज और रत्नसिंह जीतसिंह को लिटा देते है। जीतसिंह मूलराज की जाघ पर सर रखकर लेटते है—रत्नसिंह धीरे-धीरे तीर घाव से निकालता है, शेष सभी पास बैठते है**]

जीतसिंह—आह ! (**दर्द से कराहते है**) सुनो मूलराज, और देखो रत्नसिंह ! उधर सूर्य अस्त हो रहा है—और मै भी जा रहा हूँ।

मूलराज—पिता जी ! (**कण्ठावरोध**)

रत्नसिंह—अभी आप जैसलमेर की यश-पताका अनेक वर्षो तक उड़ती हुई देखेगे, पिता जी ! (**महाकाल से**) महाकाल! पालकी लाओ।

[**महाकाल का प्रस्थान**]

जीतसिंह—हाँ, सो तो मै देखूँगा ही। लेकिन यहाँ से नही, (**ऊपर उँगली उठाकर**) वहाँ से, जहाँ वे नक्षत्र चमक रहे है, वहीं पर मेरी दो आँखे भी जड़ जाएँगी और वे एकटक इस पहाड़ी दुर्ग की ओर देखेंगी। ओह, बड़ा दर्द है।

तांडवी—महारावल ! आप हम लोगो के प्राणो मे तो सदा जीवित रहेंगे। आपकी काया का वियोग भी हमे नही सहना पडेगा। आपने अपने जीवन-काल मे ऐसे न जाने कितने घाव सहे हैं। इतना निराश क्यों होते हे ?

जीतसिंह—इसलिए कि यह तीर शत्रु के तरकश का नही—जैसल-

मेर गढ के किसी विश्वासघाती राजपूत का है। इसने केवल मेरे वक्ष मे ही घाव नही किया बल्कि मेरे हृदय को भी छेद डाला है, मेरे मानस मे आशका की आँधी चला दी है जो मुझे सुख से मृत्यु-शय्या पर भी नही सोने देगी। हम बाहर के शत्रु को जीत सकते है, किन्तु भीतर के···

[महाकाल पालकी लेकर आता है]

मूलराज—लीजिये पिता जी, पालकी आ गई।

[रत्नसिंह और मूलराज जीतसिंह को उठाकर पालकी में रखना चाहते है—लेकिन वह स्वयं ही उठकर खड़े हो जाते है]

जीतसिंह—अभी मेरे शरीर मे खड़े होने का बल है।

तांडवी—आप मे सम्पूर्ण राजपूत जाति को खडा रखने का भी बल है, महारावल!

जीतसिंह—ओह! **(फिर गिरने लगते है। मूलराज और रत्नसिंह उन्हें अपने हाथो में लेते है)**

[पटाक्षेप]

दूसरा अंक

पहला दृश्य

[स्थान—जैसलमेर प्रदेश का एक रेगिस्तानी रास्ता। समय—दोपहर। एक वृद्धा और एक युवती अपने सिरों पर एक-एक गठरी रखे हुए प्रवेश करती है। युवती के हाथ मे एक चमड़े की डोलची भी है जिसमें थोड़ा-सा पानी भरा हुआ है।]

बुढ़िया—(बैठती हुई) बस, अब और नही चला जाता। प्यास से कण्ठ सूखा जाता है।

युवती—तो सासू जी, अभी डोलची मे कुछ जल है। पी लीजिए न!

बुढ़िया—जब आय का साधन दिखाई नही देता तब पूँजी को बहुत सम्हालकर खर्च करना पड़ता है। कोसो चलने के बाद हमे जल के दर्शन होगे—तब तक इस डोलची का पानी ही हमारा सहारा है।

युवती—वह सहारा किस काम का जो समय पर काम न आए? आप पीजिए, भविष्य की बात भविष्य जाने।

बुढ़िया—मेरी यात्रा तो समाप्त ही समझो। जब तक साँसो से जीवन का बोझ सम्हला उन्होने सम्हाला, लेकिन अब तो वे जवाब दे रही है। इस बुढिया की बूढी जीर्ण हड्डियो का मोह मत करो, बहू! तुम्हे लम्बी यात्रा करनी है, तिस पर तुम्हारी देह में एक और जीव है—क्या पता वह अपने कुल का दीपक हो—इसलिए मै तुम्हारा सहारा छीनकर अपनी प्यास नही बुझाऊँगी।

युवती—तो तुम समझती हो मै बिना पानी पिए रास्ता नही चल पाऊँगी। राजपूत बाला बिना पानी पिए कोसों चल सकती है—भूख-प्यास सह सकती है। मै मरना चाहती हूँ—यह भी बात नही है। मुझे

तो जीवित रहना है। मुझे तुम्हारे वीरलोकवासी पुत्र की स्मृति प्राणो में पाले हुए शत्रु से उनकी मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिए जीवित रहना है। मेरे शरीर मे जो उनका अंश पल रहा है उसकी भी मुझे रक्षा करनी है। उसे अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने मे समर्थ बनाना मेरा कर्तव्य होगा।

बुढ़िया—तभी तो कहती हूँ—तुम अपने प्राणो की चिन्ता करो—मुझे यही छोड़ दो।

युवती—यह सम्भव नही है। पानी पीजिए। मुझे पानी नही मिलेगा—और कण्ठ अधिक सूखेगा तो कटार मारकर अपना ही रक्त निकालकर, उसे गीला कर लूंगी। मै तुम्हे भी नही मरने दूंगी और स्वय भी नही मरूँगी।

[बुढिया को पानी पिलाती है। इसी समय तांडवी का कुछ साथिनो सहित प्रवेश। तांडवी सन्यासिन के वेश में। शेष साधारण राजस्थानी महिलाओ के वेश में है।]

तांडवी—आप दोनो कौन है?

युवती—उधर देखो उत्तर दिशा मे। कुछ दिखाई देता है?

तांडवी—हाँ, धुआँ का बादल-सा।

युवती—बस, वही है हमारा गाँव, जो इस समय लपटो और धुआँ के बादलो मे परिवर्तित हो गया है और कुछ देर बाद भस्म का एक ढेर हो जायगा।

तांडवी—किन्तु, ऐसा क्यों हुआ?

युवती—राजाओ के स्वार्थ और अभिमान लडते है, जिनकी रगड़ से आग उत्पन्न होती है, जो गरीबों की झोपडियो को भस्मसात् कर देती है। अलाउद्दीन और महारावल की भिडन्त हमारे सर्वनाश का कारण है।

तांडवी—तो तुम्हे इसका पछतावा है?

बुढ़िया—पछतावा किस बात का? क्या आज पहली बार हमारा घर जला है। अनेक बार मनुष्य से मनुष्य को लडते हमने देखा है। इस

लड़की के ससुर भी एक दिन शत्रु से लडते-लड़ते वीर गति को प्राप्त हुए थे—उस समय मेरे गर्भ मे उनका अश मुस्करा रहा था। उसे मैंने बड़े यत्न से पाला था कि वह शत्रु से बदला लेगा। आज वह भी शत्रु से लोहा लेते हुए चिर निद्रा मे सो गया। आज उसका अश इसमे मुसकरा रहा है। यह भी उस अश को जीवित रखने के लिए जीना चाहती है। इसी प्रकार यह हिसा-प्रतिहिसा की परम्परा चल रही है।

तांडवी—तो तुम अब जा कहाँ रही हो ?

बुढ़िया—जहाँ जीने का सहारा पा सकें—ताकि गौरव के साथ मरने का सुयोग भी मिले।

तांडवी—तो मा, मै गौरव के साथ मरने का सुयोग पाने को लालायित प्राणो की खोज मे घूम रही हूँ। मै देश पर मर-मिटने वाले भाई-बहनो का आह्वान करती फिरती हूँ—उन्हे अपने साथ ले जाती हूँ।

युवती—और ले जाकर रण-यज्ञ की सर्वग्रासी लपटो मे झोक देती हो ?

तांडवी—हाँ, झोंक देती हूँ। स्वाधीनता-देवि को प्रसन्न करने के लिए मानव-बलि देनी पड़ती है।

युवती—किन्तु, क्या जैसलमेर प्रदेश मे इस यज्ञ की आहुति बनने वाले पुरुष शेष बचे है ?

तांडवी—महीनो से अविरत प्रज्वलित रहने वाली रण-ज्वाला ने जैसलमेर के अधिकाश वीर पुरुषो को निगल लिया है, फिर भी हमे इस ज्वाला को बुझने तो नही देना। पुरुषो के पश्चात् महिलाओ को आत्माहुति देनी होगी।

बुढ़िया—और उसके पश्चात् बालको को।

तांडवी—हाँ मा ! बालको को भी। पराधीन होकर जीवित रहने के लिए हम अपनी सन्तान को भी जीवित नही छोड़ सकते।

युवती—और सारे प्रदेश को एक राख का ढेर बना देना ही क्या हमारा कर्त्तव्य है ?

तांडवी—हाँ, यदि सम्मानपूर्वक जीवित रहने का हमारे पास उपाय नही है तो। जो ससार मे आता है, वह मरता है, तब मृत्यु को भी गौरवपूर्ण क्यों न बनाया जाए ?

युवती—आपकी बात से असहमत तो मै नही हूँ—लेकिन क्या इस युद्ध को ही हम अतिम युद्ध समझकर मर मिटे ? क्या भविष्य मे इससे अच्छा सुयोग हम नही पा सकेंगे ?

तांडवी—भविष्य के सुयोग्य की ओर कायर देखते है। सम्मानपूर्वक जीवित रहने वाली जातियाँ रण-ज्वाला की ओर इस प्रकार टूटती है जिस प्रकार शलभ दीप-शिखा पर टूटते है। विजय या वीर-गति उनके दो ही लक्ष्य होते है। तीसरी बात वे नही जानती। राजपूत जाति तो अपने इसी गुण के कारण आज तक जीवित रह सकी है। न जाने कितने नर-सहारो के प्रहार सहकर भी आज उसके प्राणो मे जीवन है, आँखो मे तेज है, मस्तक मे आवेश है।

बुढ़िया—(**उठ खड़ी होती है**) और बलिदान के पथ पर चलने की उसमें शक्ति है।

तांडवी—तब तुम दोनों भी हमारी सेना में सम्मिलित हो रही हो ?

युवती—सम्मिलित होने का प्रश्न ही नहीं है। युद्ध की रक्त-पिपासु जिह्वा ने मेरे मस्तक का सिन्दूर चाट लिया है, उसकी इस नृशसता ने मेरे प्राणो मे रक्त की प्यास जाग्रत कर दी है। मुझे मोह था तो केवल भविष्य का—अपने अन्तराल मे अन्तर्निहित भविष्य का।

तांडवी—वर्तमान के गर्भ से भविष्य का उदय होता है। युद्ध का अर्थ मर जाना और मार डालना ही नही है। युद्ध का अर्थ युद्ध के साधन जुटाना भी है। जो रण-भूमि में तलवार चलाता है उसका ही कार्य गौरवपूर्ण नही है बल्कि जो उस तलवार को बनाता है उसका कार्य भी महत्त्वपूर्ण है। सफलतापूर्वक दीर्घकाल तक युद्ध कर सकने के साधन जुटाना भी तो आवश्यक है, जो जिस योग्य है, जो जो कुछ जानता है उसे उसी का दान करना है। बहन, स्वाधीनता के युद्ध

प्रत्येक व्यक्ति का उपयोग है।

बुढ़िया—मेरी बूढी हड्डियों का भी ?

तांडवी—क्यो नही, मा ! बूढी हड्डियो के तो वज्र बनते है। तो अब तुम दोनों भी हमारी सेना की सैनिकाएँ बनी हो।

बुढ़िया—हाँ, अंधा क्या माँगे दो आँखे।

तांडवी—तो आओ मेरे साथ ।

[**सबका प्रस्थान**]

[**पट-परिवर्तन**]

दूसरा दृश्य

[स्थान—जैसलमेर का एक बन्दीगृह। समय—रात्रि। रहमान एक खिड़की में से झाँक रहा है।]

रहमान—ये चार महीने चार वर्ष के समान बीते है। युद्ध का मानों अन्त ही नही आना चाहता और न मेरी मुक्ति का दिन आता है। एक तो राजपूतो की वीरता और दूसरे मेरे भाई महबूब की सज्जनता—दोनो बाते इस युद्ध को कितनी अवधि तक ले जाएँगी इसका पता नही।

[सुरजनसिंह का प्रवेश]

सुरजन—कहिये रहमानखाँ साहिब ! क्या सोच रहे है ?

रहमान—सोच नही रहा केवल देख रहा हूँ कि इस कारागार के बाहर सुन्दर चाँदनी फैली हुई है। आकाश और पृथ्वी पर सौन्दर्य के नूपुर बज रहे है।

सुरजन—जान पड़ता है आप कवि हो चले हैं।

रहमान—जब वास्तविक जगत के अभाव और बन्धन मानव की आकांक्षाओ का मार्ग रोक लेते है तो हृदय कल्पनाओ मे उडने लगता है, सुरजन ! जब से मै बन्दी बना हूँ—तब से मेरी त्मा स्वच्छन्द होकर न जाने किन-किन स्वप्नलोकों में उडने लगी है।

सुरजन—अर्थात् बन्दी बनकर आप अधिक स्वतन्त्र हो गए है। यदि ऐसा है तो चिरकाल तक आपको इसी बन्दीगृह मे रखना लाभदायक सिद्ध होगा।

रहमान—नही सुरजन, कल्पना के साम्राज्य का सम्राट् बनने से मानव की इच्छाएँ तृप्त नही होती। रहमान वास्तविक जगत पर हुकम चलाने जन्मा है—बन्दीगृह मे रहने के लिए नही। उस रात्रि को, जब राजकुमारी प्रभा और कुमार गिरिसिंह मुझे अचानक बन्दी करके काली

के मन्दिर में बलि चढाने ले गए थे, उस समय भी मैंने आशा नही छोडी थी।

सुरजन—क्यो ?

रहमान—मेरा विश्वास ! मैंने जान-बूझकर ही अपने आपको कैद कराया था। मैं आप लोगों से, विशेष रूप से आप से, मिलना चाहता था। अपने मन की बाते आप से कहना चाहता था, इसके लिए यही स्थान उपयुक्त जान पडा।

सुरजन—पंछी के लिए पीजरे मे फँस जाना जितना सरल है, पीजरे के बाहर जाना उतना नही। क्या आपको यहाँ से बाहर जाने की भी आशा है ?

रहमान—क्यो नही ? जब आप जैसे मेरे सहायक है, तो मै समझता हूँ मेरा इस गढ मे रहना दिल्ली की सेना के लिए लाभदायक ही है।

सुरजन—मैं आपकी सहायता करूँगा ऐसा विश्वास आपको क्यो हुआ ?

रहमान—आपके विचारो से मैं कुछ-कुछ परिचित हूँ। सुरजनसिह जी, आपके अंतर्प्रदेश में जो ज्वालामुखी धधक रहा है उसकी झलक मैंने आपकी आँखो में देखी है। यह जैसलमेर आपका भी है उसे खण्डहर में परिवर्तित करा देने का जीतसिह जी, मूलराज या रत्नसिंह को कोई अधिकार नहीं। मैं जैसलमेर के सुख-वैभव की रक्षा करना चाहता था और चाहता हूँ और मुझे विश्वास था और है कि आप मेरी सहायता करेंगे।

सुरजन—आप ठीक कहते है, अवसर आने पर मै और मेरे एक सहस्र सैनिक आपकी सेवा के लिए प्रस्तुत है।

रहमान—वह समय दूर नही जब हम जैसलमेर में महारावल की गद्दी पर सुरजनसिह का अभिषेक करेंगे। दिल्ली के साम्राज्य की छत्र-छाया में आने से इस पहाडी किले पर भी कंचन बरसेगा। सुरजनसिंह ! सारे राजस्थान में महारावल सुरजनसिंह की धाक जम जावेगी।

सुरजन—किन्तु ...

रहमान—किन्तु क्या, अभी तो तुमने कहा था तुम मेरी सहायता करोगे।

सुरजन—किन्तु दूसरे ही क्षण मेरे मस्तिष्क मे विचार उठा, अपने राज्य और देश के साथ विश्वासघात करने पर मेरी आत्मा धिक्कारेगी—सब लोग मेरी ओर घृणा से उँगली उठावेंगे। मै अपनी ही आँखों में गिर जाऊँगा।

रहमान—क्यो ? तुम्हें भी तो राजा बनने का अधिकार है, सुरजन-सिह ! तुम्हारे शरीर मे भी उसी वंश का रक्त है, जिसका मूलराज और रत्नसिह मे। रह गई बात विश्वासघात की, सो रात-दिन के रक्त-पात से देश को बचाना विश्वासघात नही, राजनीतिक कौशल है। व्यर्थ राजपूती दम्भ मे सारी प्रजा को कष्टो की ज्वाला में झोकना पागलपन है। तुम क्या समझते हो ?

सुरजन—हाँ, है तो ठीक। मूलराज और रत्नसिह ने सम्राट् का खजाना लूटकर 'आ बैल मुझे मार' वाली बात की है, उनके पागलपन पर हजारों भोले सैनिक जाने लुटा रहे हैं।

रहमान—इसीलिए तो मै कहता हूँ, प्रजा को भी अपनी बात कहने का अधिकार होना चाहिए। युद्ध जैसे भयंकर कार्य में प्रवृत्त होते समय, केवल राजा की सम्मति ही सब कुछ नही है। आप ही बताइए—प्रजा के किस हित के लिए यह युद्ध लड़ा जा रहा है ?

सुरजन—वह कहते है, प्रजा की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए।

रहमान—उसकी स्वतन्त्रता पर किस दिन अलाउद्दीन ने आक्रमण किया था ? जैसलमेर के राजकुमार रत्नसिह ने सम्राट् का अपमान किया था—उसका दण्ड केवल उन्हें ही मिलना चाहिए। प्रजा को क्यों इस भयकर संग्राम मे घसीटा गया।

सुरजन—प्रजा पर जब तक कुछ व्यक्तियो का अधिकार है तब तक यह अन्याय चलेगा ही। यह तो सामाजिक व्यवस्था का दोष है, खान साहिब ! इसमें हम-आप क्या कर सकते है ? आपको भी अलाउद्दीन

की इच्छा पर अपना जीवन संकट मे डालना पड़ता है, तो हमें भी राजा की इच्छा पर प्राण न्यौछावर करने को प्रस्तुत रहना पडता है।

रहमान—छोड़ो इन बानो को ! यह बताओ युद्ध के क्या समाचार है ?

सुरजन—महारावल जीतसिह कुछ घडियो के महमान है। वे गढ की रक्षा के प्रबन्ध का निरीक्षण करते समय घायल हो गए। विषैले तीर ने उनके जीवन को सकट में डाल दिया है।

रहमान—शाबाश महबूब ! मै समझता था वह रत्नसिह के कारण दया करेगा, किन्तु वह पठान है और पठान युद्धभूमि में पूरा ईमानदार रहता है।

सुरजन—लेकिन महारावल के शरीर पर आपकी सेना के तीर आघात नही कर सकते थे, यह तो मेरे एक साथी का काम है। समय आ रहा है जब आप इन सीखचों के बाहर होंगे।

[**महाकाल का प्रवेश। रहमान खिड़की के पास से हट जाता है—हटता-हटता दर्शकों की दृष्टि से ओझल हो जाता है।**]

महाकाल—हाँ, समय आ गया है सुरजनसिंह, जब तुम्हें इन सीखचो के पीछे खड़ा होना पड़ेगा। (**सुरजनसिंह तलवार निकालता है**)

महाकाल—सावधान !

[**तलवार निकालता है, और तुरही बजाता है। कई सैनिक आते है। जिनके हाथों में नंगी तलवारें है।**]

महाकाल—महाकाल परिस्थिति और अवसर को समझकर पूरी तैयारी के साथ कदम बढाता है। सुरजनसिंह, बचने का प्रयत्न न करो। देश के साथ विश्वासघात करने का मूल्य तुम्हे देना पड़ेगा। तुम्हारी जो तलवार जैसलमेर का अभिमान हो सकती थी, उसी को तुमने जैसलमेर का अपमान बनाया है। दो यह तलवार मुझे।

[**सुरजनसिंह तलवार देता है**]

सुरजन—मुझ से अपराध हुआ, मुझे क्षमा कर दो, महाकाल !

महाकाल—मैं जानता हूँ, देशद्रोही में देशद्रोह का दण्ड साहसपूर्वक सहने की भी शक्ति नही होती। कायर, क्षमा माँगता है। लेकिन सुरजनसिंह! न्याय करना राजा का काम है, मैं तो उनका आज्ञाकारी सैनिक हूँ।

सुरजन—महाकाल, तुम महारावल से भी अधिक शक्तिशाली हो।

महाकाल—ओ नरक के कीड़े, अपने मन का विष मेरे हृदय में भी प्रवेश करना चाहता है। तेरी इच्छाएँ तुझे ही नरक मे ले जा सकती हैं—महाकाल को नही।

सुरजन—सोचो महाकाल! इन राज्यो का निर्माण किस प्रकार हुआ है—इनका असली स्वामी कौन है? तुम्हारे जैसे वीर पुरुषों के रक्त-मांस के ईंट-चूने से राजाओं के ऐश्वर्य-मंदिर खड़े हुए हैं। दूसरों के लिए···

महाकाल—**(बात काटकर)** चुप रहो! मैं यह कुछ नही सुनना चाहता, सुरजन! अधिक सोचने के कारण ही मनुष्य पाप करता है—और पाप को पुण्य की परिभाषा देता है। संसार को धोखा देता है और अपने आपको भी, चलो।

[सब का प्रस्थान]

[पट-परिवर्तन]

तीसरा दृश्य

[स्थान—एक तालाब के तट पर एक सघन कुञ्ज। दो सैनिकों का प्रवेश। उनके वेश से जान पड़ता है कि उनमें से एक दिल्ली की सेना का है और एक राजपूत।]

शमशीर बहादुर—भाई बलवीरसिंह, हमारे रहमान खा साहब को अभी तक जैसलमेर के सीखचो से छुटकारा नही मिल सका। बात क्या है, सुरजनसिंह ने तो कहा था—वह उन्हे शीघ्र ही मुक्त करा लेगे।

बलवीरसिंह—भाई शमशीर बहादुर, आदमी सोचता कुछ है और होता कुछ है। उस दिन हमारे नायक सुरजनसिंह गये थे रहमान खां साहब को सीखचो के बाहर लाने—और स्वयं उन्हे ही सीखचों में बंद होना पड़ा।

शमशीर—सच !

बलवीर—बिलकुल सच ! वह महाकाल ऐसा भयानक आदमी है कि हमारे षड्यन्त्रो को विफल कर देता है। न जाने कहाँ से वह भूत की भाँति उपस्थित हो जाता है—और हमारे मनसूबों को पानी में मिला देता है। फिर भी हम निराश नही हैं। हमारे प्रयत्न का फल भविष्य बतलाएगा।

शमशीर—उधर देखो, वह कौन आ रही है ?

बलवीर—अहा, बिल्कुल स्वर्ग की अप्सरा है ! और उसके साथ वह बालिका जैसे एक गुलाब का फूल बालिका का रूप रखकर चल रहा है।

शमशीर—वह हैं हमारे सेनापति महबूब की बेगम साहिबा अनवरी बेगम—और यह है उनकी पुत्री अख्तरी। सुनो, मुझे एक बात सूझी है !

बलवीर—क्या ?

शमशीर—हम इन्हे गिरफ़्तार करके छुपाएँगे !

बलवीर—इससे क्या होगा ?

शमशीर—हम महबूब साहब से कहेगे राजकुमार रत्नसिह ने आपकी बेगम साहिबा को गिरफ़्तार करा लिया है। कल जब राजकुमार हमारे सेनापति से रोज़ की तरह मिलने आएँगे तो वह बन्दी बना लिए जाएँगे। जैसलमेर का बल और उत्साह इससे क्षीण होगा।

बलवीर—बात तो ठीक है। उधर महारावल भी अतिम साँसे ले रहे है ! इस तरह जल्दी ही जैसलमेर का साहस टूट जाएगा। लो, वे इधर ही आ रही हैं। तुम ज़रा छुप जाओ। मै अपने एक और साथी को बुला लूँ।

[**दोनो का प्रस्थान। अनवरी और अख़्तरी का प्रवेश**]

अख़्तरी—अम्माजान ! अम्माजान ! वह तालाब कितना ख़ूबसूरत मालूम होता है !

अनवरी—दूर-दूर तक फैले हुए रेत के मैदानों के बीच यह सरोवर, संसार की नीरसता में एक सरस हृदय की भाँति सुन्दर और शान्ति-प्रद है, जैसे निश्शब्द निर्जन मे दूरागत मधुर वशी-रव। राजस्थान मे इन सरोवरों का बड़ा महत्त्व है, बेटी !

अख़्तरी—इतनी दूर से रेत के मैदानों मे चलते रहने से मेरा मन ऊब गया था। इस तालाब को देखकर मेरा मन फिर से हरा हो गया है।

अनवरी—राजपूतो का जीवन भी ऐसा ही विचित्र है, बेटी ! वे ऊपर से नीरस और कठोर हैं—किन्तु उनके कठोर, बलवान शरीर में एक स्नेह-भरा कोमल हृदय होता है, जिसमें आत्मा को पवित्र कर देने वाला जल होता है। जिन आँखों में कभी क्रोध के अगारे धधकते है, उन्ही मे प्रेम का समुद्र लहराता है।

अख़्तरी—क्यों मा, हम राजपूत नही बन सकते ?

अनवरी—क्यों नही ? अगर हम राजस्थान को अपनी मा समझने लगें तो हम राजपूत हो जाएँ। और वैसे तो जो भी वीर है—उसे हम

राजपूत कह सकते हैं।

[किसी मन्दिर में शंख और घंटा बजने की ध्वनि आती है। कुछ आरती-सी सुनाई पड़ती है जिसकी ध्वनि साफ़ नहीं सुनाई देती है।]

अख्तरी—कैसी प्यारी आवाज़ है, मा!

अनवरी—पास के मन्दिर में लोग पूजा कर रहे हैं।

अख्तरी—मेरे मन के तार भी बज उठे हैं। मैं इस वक्त गीत गाए बिना नहीं रह सकती।

अनवरी—पगली, तुझे वक्त-बे-वक्त गाना ही सूझता है।

अख्तरी—हाँ मा! मन खुश होता है तो गाता है। (गाना)

मन ख़ुशी के गीत गा ले!

उड़ रहा खग क्यों गगन में
है नहीं आधार जिसमें,
भूल नभ के स्वप्न पगले,
नीड़ अवनी पर बसा ले!

मन ख़ुशी के गीत गा ले!

डर नहीं, यदि दूर तक पथ
में बिछा मरु-थल भयानक।
है यहाँ भी स्नेह का सर
प्यास अपनी तू बुझा ले,

मन ख़ुशी के गीत गा ले!

नीर है शोभा प्रकृति की,
प्रेम है जीवन जगत का,
प्रेम से अपने हृदय को
तू लबालब अब बना ले।

मन ख़ुशी के गीत गा ले!

अनवरी—उधर देख बेटी, आकाश में—वह ईद का चाँद!

अख्तरी—सचमुच, तो कल ही है ईद और हम लोग अभी तक

अब्बा से बहुत दूर हैं ।

अनवरी—ईद आती है हम लोगो के मन मे प्रेम का तूफान उठाती हुई । ईद के दिन समुद्र की लहरों की तरह सभी प्रेमी गले मिलते हैं । ऐसा कोई वर्ष नही बीता जब इस दिन तुम्हारे अब्बा से हम दूर रहे हो ।

अख्तरी—चलो तो माँ, डेरे पर चलकर कूच की तैयारी करे । आज रात भर चले, सुबह तक हम अब्बा के पास पहुँच जाएँगे ।

अनवरी—हाँ चल, इसीलिए तो हम घर से चले है कि ईद के दिन हमे जरूर उनके पास पहुँच जाना है,।

[दोनो जाना चाहती है । इतने में दो राजपूत सैनिको का प्रवेश । वे तलवारें तानते है]

बलवीर—तुम बन्दी हो ।

अनवरी—किस के ?

बलवीर—जैसलमेर के महारावल के ।

अनवरी—राजपूतों ने युद्ध-भूमि मे पौरुष दिखाने के स्थान पर निरीह स्त्रियों पर हाथ उठाना कब से प्रारम्भ कर दिया ? मुझे तो सन्देह है कि तुम राजपूत हो !

[तांडवी का प्रवेश]

तांडवी—वास्तव मे ये राजपूत नही, नरक के कीडे है । मनुष्य नही, पशु हैं ।

बलवीर—यह हमारे शत्रु के सेनापति की बेगम है । हम इन्हे बन्दी बनाएँगे ।

तांडवी—किसकी आज्ञा से ?

बलवीर—युद्ध में अनेक कार्य बिना आज्ञा के भी किये जाते है । अनेक बार सैनिकों को अपने मस्तिष्क से भी काम लेना पडता है । हमारे कार्य में हस्तक्षेप करने वाली तुम कौन हो ?

तांडवी—मै कौन हूँ हस्तक्षेप करने वाली ! मै कुछ और न भी

सही, एक राजपूत-बाला तो हूँ। मै पुरुष को मर्यादा सिखाने वाली उसकी मा तो हूँ और ये भी तुम्हारी मा हैं—जिन्हे तुम बन्दी बनाना चाहते हो। जिस मा का तुमने दूध पिया है—उसमे और इनमे कोई भेद नही है सैनिक! इनके चरणो में प्रणाम करो।

बलवीर—सैनिक भावुकता की बाढ मे नही बहता। यह भावुकता सैनिक के लिए दुर्बलता है सन्यासिनी! हम अपना कार्य करेंगे।

तांडवी—मै जैसलमेर के क्षत्रियत्व को कलंकित न होने दूँगी।

[तांडवी तुरही बजाती है। पाँच सैनिक हाथ में नंगी तलवारें लिए आते हैं।]

तांडवी—इन्हे बन्दी बनाओ।

[बलवीर और उसका साथी उन पाँचो पर आक्रमण करते हैं—युद्ध करते हुए सब सैनिको का प्रस्थान।]

तांडवी—चिन्ता न करो, बहन! मेरे वीर सैनिक इन्हे ठिकाने लगा देंगे। तुम मेरे साथ आओ।

[सब का प्रस्थान]

[पट-परिवर्तन]

चौथा दृश्य

[**स्थान—दिल्ली की सेना के शिविर के पास एक मैदान। समय—सध्या। महबूब और रत्नसिह हाथ में हाथ पकड़े हुए प्रवेश करते हैं।**]

महबूब—भाई रत्नसिह, मुझे महारावलजी के स्वर्गवास का बडा दुःख है। वह मनुष्य नही देवता थे।

रत्नसिह—ससार मे किसे ऐसा उदार, स्नेहशील और वीर पिता प्राप्त होता है। उनके जीवित रहते हमने जीवन का बोझ अनुभव ही नही किया। अब अचानक हमे ज्ञात हुआ है कि मनुष्य के अनेक उत्तरदायित्व है।

महबूब—ठीक है भाई! पिता शब्द ही आश्वासन, आशीर्वाद और प्रोत्साहन देता जान पडता है। जैसे एक बडे वृक्ष की डालियों पर अनेक पक्षी अपने घोसले बनाते हैं—उसी तरह गृहस्थी मे जो सबसे बडा होता है, उसके स्नेहांचल मे घर के सभी सदस्य सुख की साँस लेते हैं।

रत्नसिह—स्वार्थ ने ससार के हरे-भरे बाग में तीखे काँटे बिछा दिये है, मनोहर, सुखद, स्नेह-भवन मे भयकर अग्नि प्रज्वलित कर दी है। आज सम्पूर्ण मनुष्यता कराह रही है।

महबूब—ठीक है भाई! इस समाज की व्यवस्था और मानव की धारणाएँ ऐसी हो गई हैं कि कभी-कभी उसे अपनी आत्मा के विरुद्ध भी कार्य करना पड़ता है।

रत्नसिह—ठीक है, जैसे तुमको मेरे विरुद्ध संग्राम करना पडा और मुझे तुम्हारे। कैसी विडंबना है यह? मै तो चाहता था कि आत्म-समर्पण करके इस युद्ध-ज्वाला को शान्त कर दूँ।

महबूब—यदि तुम ऐसा करते तो शायद मेरे हृदय मे तुम्हारे प्रति आदर कम हो जाता।

रत्नसिंह—तो मै समझता कि मेरे मित्र ने मुझे समझने मे भूल की है—मेरे प्रेम का अपमान किया है। लेकिन ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति दे, स्वर्गीय महारावल ने ऐसा अवसर नही आने दिया। उन्होने मेरी एक न चलने दी, कहा—मुझे अपने वश-नाश की चिन्ता नही, विराट विश्व में जैसलमेर के राजवश का अस्तित्व ही क्या, किन्तु मुझे सोच है तो केवल राजपूत-जाति की प्रतिष्ठा का। वे बोले जो जन्मा है वह मरेगा, मै मृत्यु को केवल एक खेल समझता हूँ—इसलिए उससे डरने वाले को मूर्ख और कायर मानता हूँ। हम अपने मस्तकों के बीज बोकर राजस्थान में नव जीवन की खेती करेंगे।

महबूब—वास्तव मे वे बड़े वीर पुरुष थे। आदर्श क्षत्रिय थे। ऐसे मनुष्य थे जो जातियो को जीवित रखते है।

रत्नसिंह—इसमें क्या सदेह! वे हमसे कहते थे बेटा, क्षत्रिय को ऐसी मौत मरना चाहिए, जिस पर ससार ईर्षा करे। पुरुष को ऐसा रास्ता चलना चाहिए—जिसका अनुसरण ससार करे। राज्य सैकडो बार बनते और बिगड़ते है—चिन्ता नही यह जैसलमेर समाप्त हो जाय, लेकिन इतिहास मे इसकी वीरता की कहानी बनी रहे ताकि पीढियाँ इसे पुनः जीवित करने के लिए सदा प्रयत्नशील बनी रहे।

महबूब—ससार भारत के क्षत्रियो से बहुत कुछ सीख सकता है। अनेक बार मैंने सोचा, क्यो न मै सम्राट् का साथ छोड दूं। स्वामि-भक्ति की अपेक्षा मित्रता और मनुष्यता के भाव मुझे अधिक आदरणीय जान पड़ते है।

रत्नसिंह—किन्तु, तुम सम्राट् का साथ छोड भी दो तब भी उनका दुराग्रह दूर नही हो सकता। जैसलमेर के दुर्ग मे जब तक एक भी शस्त्र पकड़ने योग्य सैनिक है यहाँ का झडा नही झुकेगा—और सम्राट् को इस झडे को झुकाए बिना सन्तोष नही होगा! महबूब न होगा तो कोई दूसरा सेनापति युद्ध का संचालन करेगा।

महबूब—ठीक है रत्नसिह, मुझे यह अप्रिय कार्य करना ही पड़ेगा।

खुदा करे बादशाह अलाउद्दीन को सद्बुद्धि आए—और ऐसे वीर पुरुषो को मृत्यु के मुँह मे पहुँचाने की दुर्बुद्धि वह छोड दे।

रत्नसिंह—तलवार का रोब दिखाकर कोई हमें अपने चरणों पर नही झुका सकता। हां, तुम्हारी तरह प्रेम का हाथ बढाए तो हम उसे अपने सर पर रखने को प्रस्तुत हैं—शर्त केवल यह है कि बढाए हुए हाथ मे धोखा-कपट या राजनीतिक चाल न हो। राजपूत भोला और स्पष्टता-प्रिय होता है।

महबूब—मैं कभी-कभी सोचता हूँ—कि यदि सारे हिन्दुस्तान की बिखरी हुई शक्तियाँ—तलवार से नही—प्रेम के धागे से एक की जा सके तो क्या वह सारे ससार पर अपने प्रेम का साम्राज्य नही स्थापित कर सकता।

रत्नसिंह—लेकिन मै जानता हूँ—ये बिखरी हुई शक्तियाँ एक नही हो सकती। हमारी जाति में घृणा के बीज प्राणों में घर कर गए है—हम एक-दूसरे की जड़े खोदने का यत्न कर अपने ही आपको निर्बल बना रहे है। जिसे हम शत्रु समझते है वह वास्तव में हमारे अपने जीवन का अग है। जिसे हम धक्के मारकर घर से निकाल रहे है, वह वास्तव मे हमारे घर का प्राण है। हम अपने ही हाथ-पैर काटकर अपने विक्रम पर अभिमान करते है—कैसे मूर्ख है हम !

[**जोर से नगाड़ों एव तुरही के बजने की ध्वनि**]

महबूब—हें, इस समय रण-वाद्यो का नाद कैसा ? यह तो युद्ध का समय नही है। और (**दुर्ग की तरफ़ इशारा करके**) यह कैसी दीपावली-सी मनाई जा रही है ?

रत्नसिंह—कुछ नही भाई, मेरे बडे भाई मूलराज का राज्याभिषेक है। इसी की खुशी मे यह तुमुल नाद हो रहा है और इसी उत्सव के उपलक्ष्य में ये दीपक जलाए गये है। अच्छा, अब मुझे विदा दो।

महबूब—कुछ देर और ठहरो न ?

रत्नसिंह—नही, मुझे नए रावल के प्रति राज्यभक्ति की शपथ

लेनी है। समय पर न पहुँचा तो लोग भाई साहब के हृदय में मेरे प्रति ज़हर भरेंगे।

महबूब—तब तो तुम्हे जाना ही चाहिए वैसे मै चाहता था तुम्हे डेरे पर ले चलूं। अनवरी तुम्हे याद करती है।

रत्नसिंह—ओह, भाभी साहिबा यहाँ हैं!

महबूब—हाँ, कल ईद थी न! आज तक एक भी ईद ऐसी नही बीती, जब हम एक दूसरे से अलग रहे हो। इसीलिए वह इस बार यहाँ आ गई है।

रत्नसिंह—अर्थात् कुआ प्यासे के पास पहुँचा है। यह तो बडी खुशी की बात है। मेरे लिए दिल्ली के लड्डू लाई होगी। (हँसता है)

महबूब—यह तुम उन्ही से पूछना। अख्तरी तो मेरे सर हो रही है कि मै काका जी के पास जाऊँगी। गिरिसिह को तो वह बहुत याद करती है। वह भोली इस बात पर आश्चर्य करती है कि हम एक दूसरे की जान लेने पर उतारू हैं।

रत्नसिंह—कल मै उन्हे दुर्ग मे ले जाऊँगा। भेजोगे, महबूब? करोगे इतना भरोसा मुझ पर?

महबूब—यह भी पूछने की बात है! अपने शतरज के खिलाडी का अविश्वास! असम्भव! और मान लो तुम विश्वासघात ही कर डालो तब भी मै समझता हूँ कि विश्वास करके हानि उठाने मे भी एक आनन्द है, रत्नसिह! जिसे एकबार मित्र कहा है—उसे धोकेबाज, झूठा और स्वार्थी समझने का पाप महबूब नही कर सकता।

रत्नसिंह—तो कल उन्हे तय्यार रखना। युद्ध प्रारम्भ होने के पहले उन्हें ले जाकर उनके पवित्र चरणों से अपना घर पवित्र करूँगा। अच्छा तो बिदा!

[**रत्नसिह जाता है—महबूब उसकी तरफ़ एकटक देख रहा है। अलाउद्दीन का प्रवेश।**]

अलाउद्दीन—महबूब !

महबूब—(चौंककर) ओह बादशाह सलामत ! आदाब ! (झुककर अभिवादन करता है) कब आए दिल्ली से ?

अलाउद्दीन—जब तुमने देखा । मैं समझता था महबूब अपने कर्त्तव्य के प्रति ईमानदार है ।

महबूब—आप ठीक समझते हैं, जहाँपनाह ! उसने कर्त्तव्य में कभी ढील नही की ।

अलाउद्दीन—हूँ, ढील नही की, छ मास हो गए, इस छोटे-से पहाडी दुर्ग पर तुम अधिकार नही कर सके । और कहते हो ढील नही की । अलाउद्दीन ने कभी इतना विलम्ब सहन नही किया । मैं तुरन्त परिणाम चाहता हूँ ।

महबूब—आपका ऐसा चाहना ठीक है बादशाह सलामत ! लेकिन राजपूत भी कुछ शक्ति रखते है और लडना जानते हैं—भगवान् कृष्ण के वशज होने का उन्हे अभिमान है ।

अलाउद्दीन—अलाउद्दीन राजपूतो को जानता है और उनसे अनेक बार युद्ध-भूमि में मिला है, महबूब ! और वह उन्हे जीतने का रास्ता भी जानता है ।

महबूब—क्या ?

अलाउद्दीन—चतुराई ! रत्नसिंह तुम पर भरोसा करता है, उसका उपयोग करो । तुम उससे नित्य मिलते हो—यह मैं जान चुका हूँ—एक दिन उसे बन्दी बना लो ।

महबूब—मैं उसे युद्ध-भूमि मे पराजित करूँगा ।

अलाउद्दीन—तुम झूठे हो, महबूब ! तुम जान-बूझकर मेरे धन और सेना को नष्ट कर रहे हो ।

महबूब—क्षमा कीजिए जहाँपनाह ! आप मुझ पर असत्य आरोप लगा रहे है ।

अलाउद्दीन—मेरा आरोप पूर्ण रूप से सत्य है ! यदि नही है तो

प्रमाण दो, महबूब ! मै तुम्हारी वीरता और युद्ध-निपुणता देखना चाहता हूँ।

महबूब—ठीक है, कल सन्ध्या तक आप इस युद्ध का रुख अपनी आँखों से देखिए ! आपकी आँखों के आगे कल ऐसा भयंकर दृश्य उपस्थित होगा जैसा आपने आज तक न देखा हो।

अलाउद्दीन—मुझे तुम पर गर्व है महबूब ! पठान राजपूत से कम वीर नही होता। मै शतरंज का खेल नही लडाई चाहता हूँ। तुम रत्नसिंह की मित्रता के मोह में अपना कर्त्तव्य पूर्ण तत्परता से नही निभाते। मै यहाँ तुम्हे झकझोरकर मोह से जगाने आया हूँ। मित्रता दो आदमियों का प्रश्न है—लेकिन इस युद्ध में हार-जीत दो सल्तनतों का प्रश्न है। बडे प्रश्न के आगे छोटे को भूलना होगा। चलो, अभी तुम से कुछ और भी बातें करनी है।

[**दोनों का प्रस्थान**]

[**पट-परिवर्तन**]

पाँचवाँ दृश्य

[स्थान—जैसलमेर दुर्ग की एक दीवार के पास। समय—प्रभात। महारावल मूलराज और महाकाल का सैनिक वेश में प्रवेश]

मूलराज—राजमुकुट धारण करते ही ऐसा जान पड़ने लगा है, महाकाल, कि जैसे किसी ने मेरे सर पर हिमालय पहाड रख दिया हो। ऐसा अनुभव होता है मानो मेरा मस्तक इसके उपयुक्त नही है।

महाकाल—महारावल! ऐसा आप क्यो कहते है? आप स्वर्गीय जीतसिह के साक्षात् स्वरूप है—आपके मस्तक पर अवस्थित होकर यह राजमुकुट अपने आपको धन्य समझता है। रह गई बात बोझ अनुभव करने की, सो महारावल, जो इसकी मर्यादा को समझते है और उसका पालन करना चाहते है, उनको इसके मान और अपने यश की चिन्ता करनी ही पडती है।

मूलराज—जब तक पिताजी जीवित रहे तब तक हम तो अपने आपको बालक ही समझते रहे। तलवार से मनमाने खेल करते, युद्धो मे खून की होली खेलते, शत्रु न मिलता तो वन के हिंसक पशुओं को ही छेडते। यही हमारी दिनचर्या थी।

महाकाल—क्षत्रिय को ऐसे ही खेल खेलने चाहिएँ, महारावल! जिस राष्ट्र का शारीरिक बल नष्ट हो जाता है, पुरुषार्थ और साहस कम हो जाता है, वह पराधीनता के पाश में पडता है—इसमे जरा भी सन्देह नही है। हमारा राजस्थान पराधीनो में अपना नाम नही लिखायेगा इसका राजस्थानियों को विश्वास है।

मूलराज—किन्तु, महाकाल, मुझे तो अपने राजस्थान की चिन्ता हो उठी है। इस देश मे पुरुषार्थ, वीरता और शारीरिक शक्ति के रहते हुए भी ऐक्य-बल का अभाव है। हमारे साथियो में व्यक्तिगत आकांक्षाओं के अकुर फूट निकले है। ये अकुर बड़े होकर हमारे देश का सर्वनाश कर

महाकाल !

महाकाल—आपकी आशका यथार्थ है, महारावल ! ऊँचे पदो एव राजमुकुटो के प्रति कुछ लोग लोभ की दृष्टि से देखने लगे हैं—इसलिए षड्यन्त्र पनपने लगे है—विश्वासघात के साँप फन फैलाने लगे है।

मूलराज—हाँ, महाकाल ! हमारे देश का सम्पूर्ण वातावरण विषाक्त हो गया है। हम देश और जाति के सम्मान से भी अधिक व्यक्तिगत इच्छाओं को महत्त्व देने लगे है। आज अलाउद्दीन ने हमारे देश के इतने बडे भाग पर अधिकार कर रखा है, वह अपने शस्त्र-बल के कारण नही—बल्कि हमारी ऐक्य-बल की निर्बलता के कारण पारस्परिक फट के कारण।

महाकाल—ठीक तो है छोटे से जैसलमेर के दुर्ग पर छ. मास से घेरा डाले रहने पर भी दिल्ली की असख्य सेना आज तक कुछ न कर सकी, तो यदि सम्पूर्ण देश का क्षत्रिय तेज एकत्रित हो तो किसका साहस है कि इसके आगे आँख उठा सके।

मूलराज—हम लोग अपने स्वाभिमान की छोटी-छोटी ज्योतियाँ अलग-अलग टिमटिमाते हुए—अपनी ज्वाला मे स्वय जल रहे है। एक के बाद एक दीपक बुझता जाता है। यही हाल रहा तो मुझे डर है कि थोडे ही दिनो में सम्पूर्ण भारत मे भयकर अधकार न छा जाएगा।

[नेपथ्य में तुरही की आवाज आती है। युद्ध के दमामे बजते है।]

मूलराज—लो महाकाल, युद्ध की तुरही बज गई। शस्त्रों की झकार से अभी आकाश भर जायेगा। आज मेरे नेतृत्व मे पहला युद्ध है। महाकाल ! अपने बचपन के साथी का मान रखना।

महाकाल—मै इस राजमुकुट के गौरव और इस भूमि की रज की प्रतिष्ठा को मित्रता, बन्धुत्व और ससार के सारे सम्बन्धो से अधिक मान देता हूँ—महारावल ! महाकाल केवल इसलिए प्राणों पर नही खेल रहा कि आपने मुझ पर बचपन से स्नेह रखा है; एक साधारण सैनिक को राजकुमार का प्रेम मिला है, इसके लिए तो वह अपने आपको सौभाग्य-

मूलराज—कभी एसी दुर्घटना भी घट सकती है कि जिस पर तुम्हारे महबूब का बस न चल सके।

रत्नसिंह—जैसलमेर और दिल्ली का यह युद्ध इस युग के भारतीय इतिहास मे अप्रतिभ है। भाई साहब, दोनों ओर से किसी उत्तरदायी व्यक्ति ने कायरतापूर्ण कार्य नही किया है। हम दिन भर युद्ध करते है—शाम को गले मिलते है। महबूब के साथ मेरी शतरज की बाजी जमती है। कौरव-पाडवो की भाँति दिन भर युद्ध और रात को शान्तिपूर्ण चर्चाएँ एव विश्राम। बिलकुल महाभारत का युग आ गया है। वे मेरे साथ धोखा करेग ऐसी आशका क्यो करते हो, भाई साहब ?

मूलराज—भैया, राजा को आँखे खोलकर चलना पडता है, क्या तुम नही जानते कि महबूब के अतिरिक्त भी एक और शक्ति यहाँ काम कर रही है, जो शस्त्र चलाए बिना ही हमारी हत्या कर रही है ?

रत्नसिंह—कदाचित !

मूलराज—कदाचित नही निश्चित रूप से। वह शक्ति है, शत्रु की भेद-नीति ! हमें अपने बगल मे खडे हुए व्यक्तियो पर भी पूरा भरोसा नही करना चाहिए—फिर शत्रु तो शत्रु है और अब स्वय अलाउद्दीन के आ जाने से परिस्थिति बदल गई है। मेरी आज्ञा है—अब तुम महबूब से न मिल सकोगे।

रत्नसिंह—यह आप का अन्याय है, भाई साहब ! मै जानता हूँ—इस आज्ञा के पीछे स्नेहातिरेक ही है, फिर भी मै अपने मित्र के प्रति जरा-सा भी अविश्वास करके वहाँ जाना नही छोडना चाहता। सभवत मै आपकी आज्ञा का उल्लंघन करने का दुस्साहस करता किन्तु ऐसा जान पडता है कि मुझे ऐसा अवसर प्राप्त होने की आशका नही है।

मूलराज—क्यों ?

रत्नसिंह—अलाउद्दीन और महबूब का निश्चय है कि आज संध्या तक इस युद्ध का फैसला कर दिया जाए। आज वे पूरे बल से आक्रमण करेंगे।

महाकाल—हम प्रस्तुत है, रत्नसिह-जी ! हमारी शक्ति अजर है—हमारा विश्वास अटल है। हमारी विजय भी सुनिश्चित है।

मूलराज—**(आकाश की ओर देखकर)** पूज्य पिता जी, आज अपने पुत्रो का पराक्रम देखकर आपकी आत्मा तृप्त होगी। आप स्वर्ग में बैठे हुए भी हमें आशीर्वाद दे रहे हैं—यह हम प्रत्येक क्षण अनुभव करते है।

[गिरिसिह और अख्तरी का हाथ पकड़े हुए प्रवेश]

मूलराज—यह कौन बालिका है ?

मूलराज—यह है महबूब की सुपुत्री, बिलकुल स्वर्ग का एक फूल ! देखो न भाई साहब आप कहते थे मैं महबूब काभी भरोसा न करूँ। महबूब की बेगम अनवरी और यह बच्ची आज हमारे पाहुने हैं।

मूलराज—धन्य हो महबूब ! यूद्ध-काल मे शत्रु की मनुष्यता पर इतना विश्वास ! आओ बच्ची, मैं तुम्हे आशीर्वाद देता हूँ कि भगवान् तुम्हारा कल्याण करे।

[सेना का रव]

महाकाल—सुना, शत्रु-सेना का यह कोलाहल। अब समय नही है। शत्रु ने पूरे बल से आक्रमण कर दिया है। हमें जवाबी हमला करना चाहिए।

मूलराज—हाँ हाँ चलो !

[रत्नसिह, महाकाल और मूलराज का प्रस्थान]

गिरिसिह—अख्तरी, तुम महल में जाओ ! मै युद्ध करने जाऊँगा !

अख्तरी—ओहो, जैसे तुम अकेले ही दिल्ली जीत लोगे ! रहने दो यह युद्ध, चलो मेरे साथ !

[हाथ पकड़कर घसीट ले जाती है।]

[पट-परिवर्तन]

छठा दृश्य

[स्थान—जैसलमेर दुर्ग में बन्दी-गृह के सामने का भाग। बन्दी-गृह का एक सीखचा नज़र आ रहा है। सीखचो के पीछे रहमान खड़ा है।]

रहमान—ऐसा जान पडता है जैसे मुझे यहाँ हार खानी पडेगी। छ महीने बीत चुके अभी तक न तो युद्ध का परिणाम निकला, न मुझे ही अपने कार्य में सफलता मिली।

[तांडवी का संन्यासिनी के वेश में प्रवेश, तांडवी को देखकर रहमान सीखचों के आगे से हट जाता है। जिससे वह दर्शको का एवं तांडवी की दृष्टि से ओझल हो जाता है।]

तांडवी—कैसा भयानक युद्ध हो रहा है आज! जैसे एक विशाल तालाब का बाँध तोड दिया गया हो। बिलकुल अन्धे होकर दुर्ग पर अग्नि-वर्षा की जा रही है। एक क्षण के लिए भी विश्राम नही। ऊपर से भी भयंकर बाण-वर्षा हो रही है। दिल्ली के सैनिक मृत्यु की चिन्ता न करते हुए अपने साथियों की लाशों पर पैर रखते आगे बढ रहे है। ऐसा जान पडता है, आज इस युद्ध का परिणाम निकल आवेगा। जैसलमेर का जीवन आशा और निराशा की भूल-भुलैयो के पार हो जायगा।

[खून से लथपथ महाकाल का प्रवेश]

महाकाल—ताडवी, 'तू यहाँ क्या कर रही है?

तांडवी—मैंने सोचा यह स्थान अरक्षित छोड देने योग्य नही है। तुमने बन्द -गृह से अपने सारे विश्वस्त सैनिको को युद्ध-क्षेत्र मे बुला लिया है। यह भूल ही गये कि यहाँ सुरजन और रहमान जैसे हिसक भालू बन्द है। अवसर पाकर ये क्या न कर डाले।

महाकाल—बहन, इस समय दुर्ग की रक्षा मे हमें पूरी शक्ति लगा देनी है। हमारी सेना बहुत थोड़ी है और शत्रु का आक्रमण अत्यन्त भीषण।

तांडवी—किन्तु भैया—ऐसा न हो कि हमारी सेना दोनो ओर से घिर जावे। बाहर से तो आक्रमण हो ही रहा है, कही भीतर से भी विद्रोह न खड़ा हो जाय। इसलिए अच्छा है कि हम रहमान और सुरजन जैसे भयानक व्यक्तियों को समाप्त कर दे। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी!

महाकाल—यह युद्ध के नियमो के विरुद्ध है, बहन! युद्ध के बन्दियो को मारा नही जा सकता।

तांडवी—ओह, हमारी इसी आदर्श-पालन की वृत्ति ने हमारा सर्वनाश किया है।

महाकाल—हम अपने आदर्शों के कारण ही जीवित है, ताडवी। ससार के पर्दे से अनेक राष्ट्र और सस्कृतियाँ सर्वथा लुप्त हो गईं। हमारी आर्य-संस्कृति जीवित है तो केवल अपने सास्कृतिक बल के कारण ही। क्षणिक पराजयो ने हमारी आत्मा के बल को क्षीण नही किया। यहाँ पर राज्यो के भस्मावशषो पर नवीन साम्राज्य स्थापित हुए है। क्षणिक भय को निर्मूल करने के लिए हम कोई कायरतापूर्ण कार्य नही कर सकते। चलो तुम्हे भी मेरे साथ चलना हागा।

तांडवी—कहा?

महाकाल—दुर्ग के बाहर! मै देखता हूँ गढ के भीतर रहकर हम आज के आक्रमण से इसकी रक्षा नही कर सकेंगे। हमे बाहर से भी आक्रमण करना होगा।

तांडवी—ठीक है भैया! मने इतने महीनो के परिश्रम से एक छोटी-सी सेना तैयार कर ली है। मैंने सोचा था किसी अत्यन्त सकट के समय उसका उपयोग करूँगी।

महाकाल—तो ठीक है आज ही वह अवसर आ गया है। मै भी अपने साथियो को लेकर गुप्त द्वार से बाहर चलता हूँ, तू भी चल। अलाउद्दीन की सेना बाहर की तरफ से आक्रमण होने की कल्पना भी न कर सकी होगी। अचानक उधर से गोलियो और तीरो की वर्षा होते देखकर वह साहस छोडकर भाग जाएगी।

तांडवी—निश्चय ही भैया ! आज हमारी विजय होगी ।

[**महाकाल और तांडवी का प्रस्थान । मूलराज और रत्नसिंह का प्रवेश ।**]

मूलराज—मेरा विचार है कि हम गढ का फाटक खोलकर शत्रु से मैदान में मोर्चा ले, अन्य किसी प्रकार दुर्ग की रक्षा करना असम्भव है । शत्रु का आक्रमण दुर्ग की दीवारों को तहस-नहस किये दे रहा है । हमें अपने वीर योद्धाओं की बलि देकर भी इस आक्रमण का प्रतिकार करना चाहिए । चाहे कितनी ही कीमत देनी पडे, हमे देनी चाहिए ।

रत्नसिंह—भैया धैर्य न छोडा । शत्रु की सेना इस दुर्ग के भीतर पैर नही रख सकती और ईश्वर न करे वह आ भी सके तो हम लोग उसके स्वागत के लिए प्रस्तुत है ।

मूलराज—महाकाल कहाँ है ?

रत्नसिंह—पता नही । एक पहर पहले वह मुझे मिला था, कह रहा था एक खेल दिखाऊँगा । वह भी एक रहस्य है ।

मूलराज—सचमुच दोनो भाई-बहन चलते-फिरते तूफान है ।

[**एक ओर से दीवार गिरने की आवाज़ आती है**]

रत्नसिंह—ज्ञात होता है कि पश्चिम की ओर शत्रु को कुछ सफलता मिल रही है । चलिए हम लोग उधर ही चलें ।

मूलराज—चलो । यदि दीवार गिरी होगी तो हम स्वय दीवार बन कर खडे होंगे ।

[**दोनों का प्रस्थान । दूसरी ओर से सुरजनसिंह का प्रवेश । उसके हाथ में एक तालियों का गुच्छा एवं दो तलवारें हैं ।**]

सुरजन—रहमान खाँ साहब ! रहमान खाँ साहब !

[**रहमान सीखचों के पीछे आता है**]

रहमान—तुम सुरजनसिंह ! तुम जीवित हो ?

सुरजन—जीवित हूँ और स्वतन्त्र भी । उस दुष्ट महाकाल को मुझे बन्दी बनाने के लिए दड देने को मै सीखचों के बाहर आ गया हूँ

और आप से भी कहता हूँ चलिए, जल्दी चलिए।

[बन्दीगृह का दरवाजा खोलता है]

रहमान—शाबास सुरजनसिंह। तुम कुछ जादू जानते हो क्या ?

सुरजन—(**रहमान के बन्धन खोलता हुआ**) जादू नही रहमान खा साहब ! घर का भेदी लका ढावे वाली बात है। जैसलमेर पर विजय दिल्ली की सेना नही पा सकती—हाँ—जैसलमेर के ही आदमी इसका गला घोटेंगे। समझे—आज दुर्ग मे बडी अव्यवस्था है। महाकाल अपने विश्वस्त सैनिको को लेकर युद्ध-क्षेत्र मे चला गया है। बन्दीगृह पर उन लोगो का पहरा है जो मेरे अपने है। बेधडक होकर हम गुप्त द्वार से बाहर चले चलेंगे।

[रहमान के बन्धन खुल चुके है। सुरजन रहमान को तलवार देता है।]

रहमान—आज शेर पीजरे से बाहर निकला है। अभी तक युद्ध नही तमाशा हुआ था। अब लोग रहमान की तलवार का भी जोर देखेंगे। मुझे रत्नसिंह के अभिमान को मिट्टी मे मिलाकर ही शान्ति मिल सकती है।

सुरजन—बस चलो! देर न करो।

[दोनो का प्रस्थान। एक ओर से पुरुष वेश मे राजकुमारी प्रभा का प्रवेश। उसके हाथ मे तीर-कमान है।]

प्रभा—हैं! वे कौन दो छाया-मूर्तियाँ-सी गुप्त मार्ग से जा रही हैं? पता नही वे हमारे सैनिक हैं या शत्रु के गुप्तचर। इस समय सोचने का अवसर नही है।

[तीर मारती है। तार के छूटते ही 'हाय!' शब्द सुनाई देता है।]

प्रभा—एक तो समाप्त हो गया—लेकिन दूसरा भागा। अच्छा देखती हूँ उसे भी!

[प्रभा का प्रस्थान]

[पट-परिवर्तन]

सातवाँ दृश्य

[स्थान—जैसलमेर के राजभवन की वाटिका। अख़्तरी अपनी झोली में फूल भरे बैठी है और माला बनाती हुई गा रही है।]

अख़्तरी—

मै बनाती फूल-माला।

बिल कली का छेद डाला,
कर दिए तरु-वृन्द सूने।
गालियाँ मुझको सुनाता,
फिर रहा है मधुप काला।

मै बनाती फूल-माला।

मै उन्हे आई मनाने,
चल दिए वे जान लेने।
प्रेम के मै गीत गाती,
वे उठाते तेज भाला।

मै बनाती फूल-माला।

कह रही मै प्रेम से तुम
विश्व पर अधिकार कर लो।
पर, उन्होंने खून बरसा,
विश्व को कर लाल डाला।

मै बनाती फूल-माला।

[अख़्तरी फूलों की माला बना रही है, उसके पीछे गिरिसिंह सैनिक के वेश में हाथ में तलवार लिये खड़ा हो जाता है। अख़्तरी गिरिसिंह को देखे बिना ही माला बनाने और गाने में मस्त है। जब माला बन चुकती है, वह खड़ी होती है। पीछे से गिरिसिंह उसकी आँखें बन्द कर

देता है। अख्तरी गिरिसिंह के हाथ हटाकर, उसकी तरफ़ मुख करके खड़ी होती है और उसके गले में माला डालकर भागने लगती है किन्तु गिरिसिंह उसका हाथ पकड़ लेता है।]

अख्तरी—तुम मुझे अन्धी नही बना सकते, भोले राजकुमार ! मै घने अँधेरे मे भी तुम्हे देख लेती हूँ—देखती रहती हूँ।

गिरिसिंह—नादान अख्तरी ! मेरे गले में यह फाँसी का फदा डालकर भागती कहाँ है ? बोल, तूने यह माला क्यों पहनाई ? बचपन के खेल बड़ होने पर बहुत कष्ट देते है, अख्तरी !

अख्तरी—क्यो राजकुमार ! खेल तो खेल है। आज का खेला हुआ खेल कल भूल जाना चाहिए।

गिरिसिंह—लेकिन, अनेक खेल ऐसे होते है जो भुलाये नही जा सकते। और बड़े होने पर हमे वे खेल खेलने की ससार आज्ञा नही देता। बचपन मे हम स्वतन्त्र है—आकाश मे उडते हुए पछियो की तरह चाहे जिस डाल पर जा बैठे—वाटिका मे उडने वाली तितली की तरह चाहे जिस फूल पर आसन जमा ल—किन्तु बड़े होने पर समाज हमारे चारो ओर रेखाएँ खीच देता है, जिनकी सीमाओ के बाहर हम नही जा सकते।

अख्तरी—मै इन बातो को नही समझती, कुमार ! काका जी ने अर्थात् तुम्हारे पिता जी ने एक बार एक कृष्ण की मूर्ति मुझे लाकर दी थी, बहुत प्यारी लगती है मुझे वह। मैने उसे अपने कमरे मे सजा रखा है। उसे मै रोज़ माला पहनाती हूँ। यहाँ वह मूर्ति नही थी—मैने समझा मेरी मूर्ति में प्राण पड गये है, वह अपनी माला लेने आई है—इसलिए मैने यह माला तुम्हे पहना दी है।

गिरिसिंह—तो तुम्हारी यह मूर्ति यह माला वापिस तुम्हे पहनाना चाहती है। **(माला उतारकर उसके गले मे पहनाना चाहता है।)**

अख्तरी—नही कुमार ! यह तुम्हारे लिए ही है मै सिर्फ देना चाहती हूँ—लेना नही।

[माला हाथ मे लेकर फिर गिरिसिंह के गले मे डालती है—इतने

में प्रभा आती है। उसका वेश पुरुष-सैनिक का है। एक हाथ में खून से रंगी तलवार और दूसरे में सुरजनसिंह का कटा हुआ सर है।]

प्रभा—ठीक है, नारी केवल देने के लिए है—लेने के लिए नही।

अख्तरी—प्रभादेवी, यह कैसा भयानक वेश है। तुम यह क्या करती फिर रही हो? मुझे डर लगता है—मैं तो चाहती हूँ पुरुष भी यह हिंसक खेल न खेले।

प्रभा—भोली अख्तरी! यह भी नारी का एक रूप है। मै नही चाहती कि स्त्री एक कोमल लतिका बनकर पुरुष से लिपटी रहे। स्वय निर्बल रहे और पुरुष को भी बोझल बनाए। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व होना चाहिए। उसमे प्रत्येक परिस्थिति से लोहा लेने की क्षमता होनी चाहिए।

गिरिसिंह—रहने भी दो, बहिन, अपना यह भाषण! यह छोटी-सी बच्ची इन बातो को क्या समझे? यह बताओ यह किसका सर काट लाई हो?

प्रभा—पहचाना नही, यह तो अपने सुरजनसिंह जी है। विश्वास-घात करने का यही परिणाम होता है।

गिरिसिंह—लेकिन यह तो बन्दी था।

प्रभा—यह बन्धन से छूट भागा था—साथ में अख्तरी के चाचा रहमान खा को भी ले भागा।

अख्तरी—चाचा जी यहाँ?

प्रभा—हाँ, वे हमारे बन्दी थे। मुझे खेद है कि वे मेरे तीर के निशाने से बच गये।

अख्तरी—तो तुम उनको मार डालती?

प्रभा—क्यों नही! उन्होंने जैसलमेर के सभी वीर योद्धाओं की हत्या करने का आयोजन किया है। हत्यारो की हत्या करने मे कौन सा पाप है?

अख्तरी—यह सब क्या हो रहा है, मेरी समझ मे नही आता।

प्रभा बहिन, यह देखकर मेरा दिल कॉपता है। तुम तो स्त्री हो— तुम इन राक्षसी-कार्यो में मत पडो। तुम कपडे बदल आओ। मेरी तरह एक कोमल कुमारी बनकर आओ। जाओ—मै कहती हूँ, जाओ। ससार को युद्ध करने दो। आज हम नाचेंगे, गाएँगे, खुशी मनाएँगे।

प्रभा—ह हः नाचेंगे, गाएँगे—जब कि बाहर रक्त का सागर लहरा रहा है। अग्नि की वर्षा हो रही है। लाशों पर लाशे गिर रही हैं। मृत्यु का ताण्डव-नृत्य हो रहा है। निश्चय ही आज मै भी नाचूँगी—किन्तु आज मेरे नृत्य के तोडों मे लास्य का माधुर्य नही होगा—आज तो ताण्डव के बोल होगे।

[कहते हुए प्रभा का प्रस्थान]

गिरिसिंह—अख्तरी, अब मुझे भी जाना होगा।

अख्तरी—कहाँ, लोगो के सर काटने ? इसके लिए और बहुत लोग है। देखो, मुझे बार-बार यहाँ नही आना है। और सुनो कुमार, मै ऐसी दुनिया मे ज्यादा दिन नही जी सकती जहाँ आदमी भी जानवर बन गया हो। मेरा दिल इस दुनिया मे नही लगता, कुमार ! मै जाऊँगी—ऊपर जहाँ तारे हमेशा मुस्कराते रहते हैं।

गिरिसिंह—नही अख्तरी ! हम अपनी इच्छा से कही आ-जा नही सकते। मनुष्य की आकाक्षा ने इस ससार का रूप विकृत कर दिया है। जब तक व्यक्तिगत आकाक्षाएँ, लोभ और लालसाएँ, राज्य-प्रणालियाँ और वैभवपति बनने की इच्छाएँ जीवित हे—तब तक यह हिंसा-काण्ड चलेगा ही। ससार की इस विकृति मे केवल एक स्त्री का हाथ है, जो परम सुन्दरी हैं।

अख्तरी—कौन है वह पिशाचिनी ?

गिरिसिंह—वह है लक्ष्मी! ससार ने सरस्वती को छोड़कर लक्ष्मी की आराधना आरम्भ की है, तभी से उसका यह हाल है। एक वह युग था जब लक्ष्मीपति सरस्वती-साधक के चरणों में सर झुकाते थे। एक यह युग है कि लक्ष्मीपति के पाप भी पुण्य समझे जाते हैं। लक्ष्मी ने मानव को

ऐसी शराब पिलाई है कि वह पाप-पुण्य, अच्छे-बुरे का विवेक भूल गया है।

[प्रभा का स्त्री-वेश में प्रवेश। उसके एक हाथ मे वीणा है—दूसरे में एक बाँसुरी।]

अख्तरी—अभी तो तुमने कहा था—तुम ताण्डव-नृत्य करोगी—सर्वनाश का गीत गाओगी और तुरत ही मोहनी का रूप बनाकर आ पहुँची। कैसी छलनामयी किशोरी हो तुम!

गिरिसिंह—हाँ, मरी बहन विचित्र है। यह किस समय क्या करेगी यह विधाता भी नही समझ सकता!

प्रभा—लो अख्तरी, यह वीणा! और लो गिरि, यह बाँसुरी!

अख्तरी—मै वीणा बजाना नही जानती।

प्रभा—तो मै बजाऊँगी! अख्तरी, यह न समझो कि प्रभा केवल तलवार चलाना जानती है। मै वीणा की तान से हिरनो की सुधि भुला सकती हूँ! तुम नाचो अख्तरी, तुम कन्हैया बनकर बाँसुरी बजाओ, गिरि! मै वीणा बजाती हूँ। बाहर हमारे बड़े-बूढे सर्वनाश के ताण्डव मे निरत है—हम यहाँ प्रेम का रास रचावेगे। ससार मे दोनो ही भाव जीवित रहेगे। अख्तरी! सृजन और सहार! प्यार और प्रहार! विश्व का वैचित्र्य ही सौन्दर्य है!

[प्रभा बैठकर वीणा बजाती है और तान छेड़ती है। गिरि बाँसुरी बजाता है। अख्तरी नाचती है।]

(गान)

क्यों भूले क्यो भूले ?
बंसी का बजाना क्यों भूले ?

ओ शंख बजाने वाले,
संग्राम रचाने वाले,

गौओं का चराना क्यों भूले ?
क्यों भूले ?
बंसी का बजाना क्यों भूले ?

साम्राज्य जमाने वाले,
गीता समझाने वाले,
　　　　माखन का चुराना क्यो भूले ?
　　　　क्यों भूले ?
　　　　बंसी का बजाना क्यों भूले ?
जब लता-वृक्ष सब फूले,
तब डाल रेशमी झूले,
　　　　राधा को झुलाना क्यों भूले ?
　　　　क्यों भूले ?
　　　　बंसी का बजाना क्यों भूले ?

[गिरिसिंह, प्रभा और अख्तरी नृत्य-गान में मग्न हैं। अनवरी और किरणमयी का प्रवेश। उन्हें देखकर नृत्य-गान बन्द हो जाता है।]

किरणमयी—बन्द क्यो करती हो ? चलने दो ! तलवारो की झंकार सुनते-सुनते कान ऊब गये हैं। छिडने दो तुम्हारा यह प्यारा सगीत।

अनवरी—युद्ध के भयकर वातावरण मे इन बच्चो का मधुर सगीत राजस्थान के सुविस्तृत रेगिस्तान मे कही-कही लहराने वाले सरोवरो की भाँति हृदय को हरा कर देने वाला है, थके और प्यासे प्राणियो को नवजीवन देने वाला है।

किरणमयी—लज्जित क्यो होती हो प्रभा, गाओ! अख्तरी, नाचो! गिरि, छेडो मधुर बंसी।

[नृत्य-गान आगे चलता है]

है रस बरसाने वाली,
पूनम की रात उजाली,
　　　　मधु-रास रचाना क्यो भूले ?
　　　　क्यों भूले ?
　　　　बंसी का बजाना क्यों भूले ?

खेलो न रक्त की होली,
कहती ब्रज-बाला भोली,
रस-रंग बहाना क्यों भूले ?
क्यों भूले ?
बंसी का बजाना क्यों भूले ?

[पटाक्षेप]

तीसरा अंक

पहला दृश्य

[स्थान—जैसलमेर दुर्ग के बाहर युद्ध-भूमि। समय—संध्या के निकट महबूब और अलाउद्दीन बातें करते हुए प्रवेश करते हैं।]

अलाउद्दीन—महबूब, आज का युद्ध देखकर मुझे बहुत आनन्द मिला। हमारी सेना ने जान पर खेलकर दुर्ग पर भयंकर आक्रमण किया है—उधर शत्रु ने भी अपनी शक्ति से भी अधिक साहस प्रदर्शित किया है।

महबूब—आप कहते थे मैं मित्र पर दया करता हूँ।

अलाउद्दीन—वह मेरा भ्रम था, महबूब या यों कहो मैं तुम्हें जोश दिलाना चाहता था। जैसे सम्बन्ध तुम्हारे रत्नसिंह के हैं—वैसे मेरे उसके साथ होते तो मैं नहीं कह सकता कि मैं तुम्हारी तरह उसके विरुद्ध तलवार पकड़ सकता या नहीं।

महबूब—लेकिन बादशाह सलामत, आप अपनी तलवार के स्वामी हैं—उसे अपनी इच्छा से म्यान के बाहर निकाल सकते हैं और भीतर रख सकते हैं। लेकिन महबूब की तलवार पर आपका शासन है। वह आपके इशारे पर नाचती है। साम्राज्य का सम्मान जिस दिन मेरी तलवार से कहेगा तू महबूब की बीबी-बच्चों का खून पी—उस दिन भी यह अपना कार्य करने में हिचकेगी नहीं, यद्यपि वह निष्ठुर कार्य मनुष्यता के विरुद्ध होगा।

अलाउद्दीन—मुझे तुम्हारे-जैसे सेनापति पर अभिमान है, महबूब! जब तक मेरे सेनापति संगठन और अनुशासन का मूल्य समझते हैं तब तक हमारे शासन का भवन सुदृढ़ है।

महबूब—यह आपकी धारणा बहुत हद तक ठीक है किन्तु मैं चाहता

हूँ—आप कुछ आगे तक देखें। केवल सैनिक-शक्ति पर विश्वास रख कर साम्राज्य को सुदृढ नही बनाया जा सकता। सैनिक शक्ति के दीवाने एक बवंडर की भाँति उठते है और दुनिया मे एक आतक उत्पन्न करके समाप्त भी हो जाते है। बाद मे उनके बनाए हुए साम्राज्य भी छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

अलाउद्दीन—तुम क्या चाहते हो, महबूब ?

महबूब—यही कि हम यहाँ के रहने वालो के साथ एकजान हो जायँ। यदि हम सदा ही विदेशी बने रहे तो हमारी सत्ता भी खतरे मे पड़ी रहेगी।

अलाउद्दीन—क्यो ?

महबूब—इसलिए कि हिन्दुओ की सस्कृति महान् है। उनका इतिहास हम से अधिक पुराना, जो अत्यत उज्ज्वल, अत्यत प्रेरणाप्रद है। वह किसी की है आधीनता मे चिरकाल तक नहीं रह सकते। वे बुद्धि, ज्ञान और बल मे हम से बड़े है। वे यह नही भूल सकते कि एक दिन वे ससार भर के राजा और धर्मगुरु थे।

अलाउद्दीन—लेकिन महबूब, यही तो कारण है कि हम उनके साथ एक नही हो सकते, वे हमे हीन और अपदार्थ समझते है—हमारे साथ उठना-बैठना पसन्द नही करते। यदि वे हमसे बराबरी से मिलने को तैयार हों तो क्यो न हम उन्हें गले लगावे ? क्यो न हम यहाँ एक-दूसरे के मित्र बनकर रहे ?

महबूब—हिन्दुओ ने हम से प्रेम नही किया, यह बात सर्वथा मिथ्या है, बादशाह सलामत ! हमारी सेना के पहले हमारे व्यापारी और धर्म-गुरु यहाँ आए है, उनका हिन्दू जनता और राजाओं ने आदर-सत्कार किया है। सैकड़ों वर्षों से हमारे साथी यहाँ रहते चले आये है और समाज में समानता का व्यवहार पाते रहे है। अब अचानक हम तलवार निकालकर खडे हो गये है, उन पर शासन करना चाहते है, तभी तो हिन्दुओ के आत्म-तेज ने घृणा का रूप धारण कर लिया है।

अलाउद्दीन—लेकिन हम उनसे मिलने का प्रयत्न करेगे तो अपना अस्तित्व ही खो डालेंगे, जिस तरह और भी अनेक विदेशी जातियाँ आकर यहाँ अपना अस्तित्व खो बैठी। नमक के समुद्र मे जो पड़ा नमक हो गया।

महबूब—नही बादशाह सलामत, हम इतने निर्बल नही है कि अन्य जातियो की भाँति हिन्दुओ द्वारा आत्मसात किये जा सकें। हजरत मोहम्मद साहब ने हमे जिन सिद्धान्तो की नीव पर खड़ा किया है वे हमे सुदृढ और सगठित बनाती है। ससार मे जब तक चाँद-सूरज है—मुस्लिम संस्कृति जीवित रहेगी। इसी तरह हिन्दू-सस्कृति अपने अतीत के इतिहास के बल पर जीवित रहेगी। आज चाहे वह सकुचित रीति-रिवाजो की सीमाओ मे बँध गई हो—लेकिन एक दिन वह अपने पूर्वरूप में फिर विस्तृत होगी। हम उसे मिटाना चाहेगे तो वह हमारा व्यर्थ प्रयास होगा। इन दोनों सस्कृतियों का एक-दूसरो को समाप्त कर देने या आत्मसात कर लेने का स्वप्न देखना एक पागलपन है।

अलाउद्दीन—पागलपन क्यों है? हमने धार्मिक सिद्धान्तों और तलवार की तीव्रता से थोडे से समय मे अरब से लेकर हिन्दूकुश तक अपना राज्य और धर्म फैला दिया है। क्या भारत मे ऐसा न हो सकेगा?

महबूब—हाँ, नही हो सकेगा? जो सिकन्दर महान् यूनान से हिन्दूकुश तक विजय का डका बजाता चला आया उसे भारत के एक छोटे से राजा पौरुष ने वह सबक पढाया कि उसकी सेना का साहस टूट गया और उसे निराश होकर लौटना पड़ा।

[नेपथ्य मे 'हर हर महादेव' की आवाज]

अलाउद्दीन—सुनते हो महबूब, हमारी सेना के पीछे यह कैसी आवाज हो रही है? और देखते हो कैसा धूल का बवण्डर-सा उठ रहा है।

[गोलियो के चलने की आवाज]

महबूब—हाँ, बादशाह सलामत! किसी ने अचानक पीछे से आक्रमण कर दिया है। हमारी सेना इस आकस्मिक आक्रमण से घबरा

कर भागी जा रही है।

अलाउद्दीन—ओह, क्या आज मुझे पराजित होना पडेगा ? महबूब मैंने तुम्हे उत्तेजित करके अपनी सम्पूर्ण शक्ति से दुर्ग पर आक्रमण करा कर अच्छा नही किया। मै नही जान सका था कि दुर्ग के बाहर भी राजपूतों ने सेना जमा कर रखी होगी।

महबूब—अब सोच-बिचार करने का समय नही है, बादशाह सलामत ! हमें निश्चय कर लेना चाहिए कि या तो हम दोनों ओर से राजपूतो की अग्नि और वाणों की वर्षा सहते हुए लडते रहें—या अपनी सेना को यहाँ से हटा ले जावे।

अलाउद्दीन—लेकिन, हमारी सेना तो स्वय तितर-बितर होकर भाग रही है। चलो, उसे रोकने का प्रयत्न करे। अलाउद्दीन मुसीबत में होश नही गँवाता। घबराने की कोई बात नही है। युद्ध में ऐसे अवसर आते ही है। हमें धैर्य से परिस्थिति का सामना करना चाहिए।

महबूब—ठीक है ! स्थिति देखकर हम उचित निश्चय कर सकेंगे। चलिए।

[दोनों का प्रस्थान। दूसरी ओर से महाकाल और तांडवी का प्रवेश।]

महाकाल—यही तो था अलाउद्दीन, जिसकी रक्त की प्यास सारे भारत में हाहाकार मचाय हुए है। उसके खून से अपनी तलवार को स्नान कराने की तीव्र इच्छा मै पूर्ण करना चाहता हूँ।

तांडवी—देखो न भैया ! हमारी सेना ने कैसा भयंकर आक्रमण किया है। उधर देखो वे है अलाउद्दीन—और महबूब—सेना को भागने से रोक रहे है।

महाकाल—लेकिन इस समय उनकी सुनता कौन है ? आज हमारी विजय सुनिश्चित है। स्वर्गीय महारावल जीतसिंह आज जैसलमेर के वीरो का पराक्रम देखकर फूले न समाते होगे। उनका बलिदान व्यर्थ नही गया, तांडवी !

तांडवी—निश्चय ही भैया ! बलिदानों से राष्ट्र को यौवन मिलता

है। जैसलमेर के वीर आज जन्मभूमि का गौरव आकाश तक पहुँचा रहे है।

महाकाल—तांडवी, वास्तव में तूने गुप्त रूप से इस सेना का संगठन करके जैसलमेर की अपूर्व सेवा की है। चलो, अब हम अलाउद्दीन को घेर कर उसे जैसलमेर की ओर आँख उठाने का दण्ड दें।

[दोनों का प्रस्थान और रहमान खाँ का प्रवेश]

रहमान—मै सीखचों के बाहर आकर भी कुछ न कर सका। मेरे आने के पहले ही महाकाल ने दिल्ली की सेना को विशृंखल कर दिया है। वास्तव में इस व्यक्ति मे गजब का साहस और चातुर्य है। अच्छा देखूं अन्तिम समय भी कुछ कर पाऊँ। जिस दिल्ली की सेना ने कभी पराजय का मुँह नही देखा वह आज मुट्ठी भर राजपूतों से पराजित हो, यह लज्जाजनक बात है, जहाँ तक बन सकेगा मै उसे इस कलंक से बचाऊँगा।

[प्रस्थान]

[पट-परिवर्तन]

दूसरा दृश्य

[स्थान—जैसलमेर की राज्य-वाटिका में अख्तरी घूमती हुई गा रही है। उसका गीत संध्या के उदासी भरे हुए वातावरण की गम्भीरता को बढ़ा रहा है।]

अख्तरी—(गान)—

जा न पंछी, जा न पंछी !

जल रहा है कुंज, जिसमें
नीड़ था तूने बनाया !
लाल लपटों में समाने
के लिए तू क्यों लुभाया !

मान पंछी, जा न पंछी !
जा न पंछी, जा न पंछी !

हैं सभी तरु एक जैसे
एक जैसे कुंज सारे,
विश्व के मन में सभी जन
मुस्कराते-से सितारे।

जा न पंछी, मान पंछी !
जा न पंछी, जा न पंछी !

पंख तेरे हैं तनिक-से
और लपटें हैं भयंकर।
नाश से रण ठानने की
बावले, तू भूल मत कर।

दे न कोमल जान पंछी !
जा न पंछी, जा न पंछी !

[अख्तरी गा रही है—प्रभा आती है]

प्रभा—पक्षियो की जानो की बड़ी चिन्ता हो रही तुझे !

अख्तरी—जब शिकारी शिकार करने निकलता है उस समय भोले पछियों के प्राणो की चिन्ता ममता भरे, दया भरे, प्रेम भरे हृदयो को हो ही उठती है।

प्रभा—किन्तु आकाक्षा की मदिरा पीकर मानव अपने स्वप्न को साक्षात करना चाहता है तो उसे शिकारी बनना ही पडता है।

अख्तरी—मुझे तो इस बात पर आश्चर्य होता है कि प्राणी असम्भव सपनो को सच्चे क्यो करना चाहता है ?

प्रभा—इसलिए कि प्रत्येक प्राणी को सपने देखने का अधिकार है—और उन सपनों को सच्चे करने का भी।

अख्तरी—जब हम दिल्ली से यहाँ आ रहे थे तो एक जगह मैंने देखा—एक पेड़ के पत्ते—डालियाँ सब जल गए हैं—फिर भी कुछ पछी उस ठूँठ पर अपना घोसला बनाए हुए है। क्या उन्हे कोई अच्छा पेड़ नही मिल सकता था ?

प्रभा—क्यों नही ? लेकिन जिस वृक्ष पर अतीत के सुनहरे दिन बिताए हैं—उसके सर्वस्वहीन हो जाने पर भी क्या उसे छोड़ा जा सकता है ? वर्षों के ससर्ग और सहवास ने ममता का ऐसा बन्धन बाँध दिया है कि फिर कोई स्वर्ग के नन्दन मे भी ले जाए किंतु वे पक्षी अपने पुराने पेड़ को नही छोड़ते।

अख्तरी—लेकिन क्या यह बुद्धिमानी है ?

प्रभा—भावना के जगत मे प्रत्येक बात बुद्धि की आँखो से नही देखी जाती, अख्तरी ! अपने घर, देश और जन्मभूमि के प्रति प्रेम की भावना रखना प्राणीमात्र का स्वभाव है जिसने प्राणों के मोह मे पड़कर अपनी जन्मभूमि को भुला दिया, वह बुद्धिमान नही कायर पुरुष है।

अख्तरी—मनुष्य तो अपने लिए सदा ही अधिकाधिक सुख-ऐश्वर्य की खोज करता रहता है। देखो न हिन्दुस्तान को हरा-भरा और धन-धान्यपूर्ण देखकर विदेशी यहीं अपना घर बना लेते है।

प्रभा—हाँ, यहाँ घर तो बसाते है, लेकिन इसे अपनी जन्म-भूमि नही मान पाते। इसीलिए तो वे इसकी बर्बादी पर दुखी नही होते—रात-दिन यहाँ विनाश का चक्र घूमता रहता है। नगर उजाडे जाते हैं—गाँव जलाये जाते है—रक्त के समुद्र मे नर-मुण्ड तैरते है। यह सब इसलिए न कि हमने इस देश को जन्मभूमि और इसमे रहने वाले लोगों को अपना भाई समझना नही जाना।

अख़्तरी—लेकिन जो बाहर से आये है—वे कसे इसे अपनी मातृ-भूमि मानें।

प्रभा—समय दूसरे देश को भी जन्म-भूमि बना देता है, अख़्तरी ! हम जो राजपूत कहलाते हैं—उनमे कितने ऐसे है जो बाहर से आये हैं—और कितने यही के है—इस विषय मे कुछ भी निश्चय से नही कहा जा सकता। और जो अपने आपको बाहर का समझते है—उनमे कितने ही ऐसे है जो यही से बाहर गये थे और फिर लौटकर आये है। इसीलिए मै कहती हूँ कि जिस देश का वर्षों से हम अन्न-जल ग्रहण कर रहे हैं, वही हमारी मातृ-भूमि है। हमें उसके मान और ऐश्वर्य की सदा चिंता करनी चाहिए।

[गिरिसिंह का प्रवेश। उसके हाथ में एक खाली पिंजरा है।]

गिरिसिंह—प्रभा बहन, देखो तो मैंने ज़रा दरवाज़ा खोला कि अपना तोता उड़ गया। हम उसे कितने प्रेम से रखते थे। अच्छे-से-अच्छा भोजन देते थे—फिर भी वह भाग गया। यहाँ उसे क्या दुख था ?

[पिंजरा रख देता है]

अख़्तरी—देखा प्रभा, तुम कहती थीं,जहाँ का अन्न-जल ग्रहण करो, उसे अपनी मातृ-भूमि मानो, तुम्हारा तोता ऐसा न कर सका। वह फ़िर जंगल की डालो पर स्वच्छन्द होकर फुदक रहा होगा। आनन्द के गीत गा रहा होगा।

प्रभा—उसका पिंजरे मे रहना उसकी इच्छा के विरुद्ध था,—बधन था। यदि उसे इस बात की स्वतन्त्रता होती कि जी चाहे जब इस

पिंजरे में आ जाय और जी चाहे तब उड़कर चला जाय—उसे अपने साथियों से अलग न किया गया होता, उसके पंखो को वन-उपवन और आकाश मे उडने की पूरी स्वाधीनता होती तो वह अवश्य इस पिंजरे को भी प्यार कर सकता था। नीड क्या है, स्वनिर्मित पिंजरा ही तो पक्षी को अपना नीड़ क्यो प्यारा लगता है ? प्राणी, चाहे वह पक्षी हो, चाहे पशु, चाहे मानव, चाहता है कि उसकी स्वाधीनता का अपहरण न हो उस पर किसी का शासन न रहना चाहिए।

अख्तरी—क्या मनुष्य मे भी ऐसा हो सकता है कि यहाँ कोई राजा ही न हो। सब कोई अपने कार्यों मे स्वाधीन हों ?

प्रभा—मैं समझती हूँ—स्वाभाविकता इसी मे है कि कोई राजा हो ही नही। सब श्रम कर अपने लिए खाना-कपड़ा जुटाले। दूसरो को भूखों मारकर स्वयं आनन्द मनाने की प्रवृत्ति नष्ट हो जाय।

गिरिसिंह—लेकिन मनुष्य कल्पनाशील और महत्वाकांक्षी है। उसकी आकाक्षाएँ क्या उसे शान्त रहने देगी ? मनुष्य की आकाक्षाओं पर नियंत्रण रखने के लिए राजा की जरूरत है, प्रभा बहन !

प्रभा—राजा नही, एक शासन-प्रणाली की आवश्यकता है, गिरि ! यह शासन-प्रणाली एक व्यक्ति के हाथ में रहेगी तो कभी वह राम का राज्य बन जायगी—तो कभी रावण का। इसलिए राज्य ऐसा होना चाहिए जिसमे सर्वसाधारण का पूरा हाथ हो। राजा अपने मानापमान, आकांक्षा और लालसाओ के लिए व्यर्थ ही प्रजा को कष्ट देता है—उसे युद्धभूमि मे भेजकर उसके जीवन के साथ खेल करता है। लोक का राज्य होने से संसार स्वर्ग बन सकता है, भैया ! राजा के राज्य से नही।

[महाकाल का हाथ मे दिल्ली का शाही झण्डा लिये हुए प्रवेश]

प्रभा—कौन, महाकाल जी ! यह शाही झण्डा···

महाकाल—हाँ प्रभाकुमारी ! यह शाही झण्डा आज जैसलमेर के चरणों पर झुकने को बाध्य हुआ है। शाही सेना भाग गई है।

[किरणमयी और अनवरी का प्रवेश]

किरणमयी—क्या कहते हो शाही सेना भाग गई ?

महाकाल—हाँ, वह पराजित होकर भाग गई है । जैसलमेर के वीर-राजपूतो ने आज अपना नाम अमर कर दिया । भगवान् कृष्ण के वंशजो ने अपने पूर्व-पुरुषो की कीर्ति को चार चाँद लगा दिये है ।

अनवरी—और वे······

महाकाल—घबराओ नही, सेनापति महबूब साहब, पराजित होने पर भी सुरक्षित है ! उन्हे बादशाह अलाउद्दीन के साथ ही युद्ध-क्षेत्र छोड़ने को मजबूर होना पडा है ।

अख्तरी—तो यह युद्ध अब बन्द हो जाएगा ।

[रत्नसिह का प्रवेश]

महाकाल—यह कैसे सम्भव है, अख्तरी ! अलाउद्दीन चुपचाप अपमान सह लेने का आदी नहीं है । जैसलमेर पर इससे भी अधिक भयकर युद्ध के बादल मँडरावेंगे । रक्त की भयानक वर्षा होगी । इससे भी भीषण ताण्डव नृत्य यहाँ होगा ।

अख्तरी—मा ! क्या आज अब्बा के पास न जा सकेंगे ?

रत्नसिह—क्यो नही बच्ची ! मै भाई महबूब से कहकर आया था कि आज संध्या को तुम्हे वापिस पहुँचा दूंगा । जान पर खेलकर भी मैं अपना वचन पूरा करूँगा ।

किरणमयी—किन्तु देवर ! शाही सेना तितर-बितर हो गई है—आप कहाँ उनका पता लेंगे ? और जानते हो वह रहमान खा भी बंधन से छूट गया है, वह तुम्हे अकेला पाकर क्या कर गुजरे, इसका कुछ अनुमान है ?

रत्नसिह—कुछ भी हो, भाभी ! रत्नसिह अपने मित्र को दिए हुए वचन का पालन करेगा ।

महाकाल—मै आपके साथ चलूंगा । यद्यपि हमारी विजय हुई है फिर भी हम सुरक्षित नही है । चारो ओर षड़यन्त्रों के जाल बिछे हुए हैं । देश-द्रोहियो की लालसाएँ साँप की तरह रेग रही है—न जाने कब वे

फन फैलाकर सामने आ जावें। हमें सावधान होकर चलना चाहिए।

अनवरी—आप लोग क्यो इतना सकट मोल लेते है? हम यहाँ भी आनन्द से है। यह भी तो हमारा ही घर है।

रत्नसिंह—नही बेगम साहिबा, जैसलमेर का भविष्य बहुत अनिश्चित है। ऐसा जान पड़ता है जैसे हम ज्वालामुखी के मुख पर बैठे है, जो अचानक फटने वाला है। आपके प्राणो और सम्मान के साथ मै खिलवाड नही करूँगा। मै अनुभव करता हूँ कि एक क्षण के लिए भी अब आपका यहाँ रहना खतरे से खाली नही। चलिए।

[**सब का प्रस्थान**]

[**पट-परिवर्तन**]

तीसरा दृश्य

[स्थान—वीरान रेगिस्तान। जलता हुई दोपहरी। अस्त-व्यस्त हालत में दो सैनिको का प्रवेश]

पहला सैनिक—जान बची और लाखो पाए। कैसा भयानक है यह देश। चारो ओर दूर तक बालू ही बालू। ऊपर सूर्य की तमतमाती हुई किरणे। दूर तक न पेडो की छाया न कही पानी का नाम।

दूसरा सैनिक—और उस पर शत्रु की सेना के तीरो की मार। अपने जीवन में ऐसी मुसीबत मैंने तो कभी नही उठाई।

पहला सैनिक—भाई, हम तो समझे थे कि कल हमारी जीत हो गई। लेकिन अचानक पीछे की तरफ न जाने कहाँ से असख्य सैनिक हम पर टूट पडे।

दूसरा सैनिक—हम तो समझते थे ये राजपूत लोग कभी दुर्ग के बाहर आकर हम से नही लडेगे—इसलिए पीछे का कुछ भी ध्यान न रखकर सारी शक्ति दुर्ग को सर करने मे लगा बैठे।

पहला सैनिक—यह पहली ही बार हमारी सेना को इस तरह मुँह की खानी पडी है।

दूसरा सैनिक—लेकिन बादशाह अलाउद्दीन इस अपमान को चुपचाप नही सहेगे। हम लोग तो बलिदान के बकरे है। अभी बच आये तो क्या फिर शीघ्र ही जैसलमेर पर चढ़ाई होगी।

पहला सैनिक—लेकिन भाई, मै तो अब घर जाना चाहता हूँ। आखिर हम भी आदमी है, हमारे भी बाल-बच्चे है। हमारे दिल में भी ममता-माया है। मन बार-बार उड़कर घर की ओर दौड़ता है।

दूसरा सैनिक—लेकिन भाई, कुछ चाँदी के टुकड़ो के बदले हमने अपनी सारी अभिलाषाएँ बेच दी है। सैनिक का न कोई घर है, न कोई स्वजन। उसका जीवन हवा मे जलता हुआ दीपक है। न जाने कब बुझ जाए।

पहला सैनिक—लेकिन भाई, राजाओं के व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए हम लोग क्यो अपनी जान लुटाएँ। दुनिया में जो खून की होली खेली जा रही है वह रुक सकती है—यदि हम लोग थोड़ा-सा साहस बटोरे !

दूसरा सैनिक—कैसा साहस ?

पहला सैनिक—यही कि हम दूसरो के इशारे पर नाचना छोड दे। इस दुनिया मे सबको रहने—बसने के लिए स्थान है—सबका पेट भरने के लिए अन्न है। फिर किस लिए यह हत्याकाण्ड चालू है ? थोड़े से व्यक्तियो ने सारे ससार को नरक बना रक्खा है। हमे इसके विरुद्ध विद्रोह करना चाहिए।

दूसरा सैनिक—लेकिन भाई, यदि एक देश के सैनिक ऐसा सोचकर सैनिक-वृत्ति छोड दे, तो उससे क्या होगा। यह भाव सम्पूर्ण विश्व के सैनिक-वर्ग मे—जन-जन के मन में जागे तभी कुछ हो सकता है। जब तक एक भी देश सैनिक-शक्ति का हामी है—संसार के प्रत्येक देश को हिंसा का प्रतिकार हिसा से करने को प्रस्तुत रहना पडेगा। हम लोग यदि सैनिक-वृत्ति से घृणा करेगे तो हमारी जाति दुर्बल होगी—हम पराधीन बन जावेगे। इसलिए हमे सैनिकत्व पर अभिमान करना चाहिए। हम लोग अपनी जाति, देश और राष्ट्र की रीढ की हड्डियाँ हैं।

पहला सैनिक—ये तो इन राज्य-विस्तार के लिए लालायित वैभव के भडार के लोभी लोगों द्वारा फैलाए हुए विचार है। इन्होने हमें मूर्ख बना रखा हुआ है। हम मूर्ख लोगो की लाशों पर ही तो ये लोग अपने साम्राज्यो के विशाल भवन निर्माण करते है। तुम चाहे कुछ भी कहो मैंने तो सीधे घर लौट जाने का निश्चय किया है।

दूसरा सैनिक—सेना से भाग जाना अपराध है और इसका दण्ड मृत्यु है।

पहला सैनिक—देखा जाएगा ! ऐसे भी कौन जीवित रह सकेंगे। मै तो कहता हूँ तुम भी चलो।

[पहला सैनिक दूसरे का हाथ पकड़कर ले जाता है। एक ओर दोनों सैनिकों का प्रस्थान, दूसरी ओर से अलाउद्दीन और महबूब का प्रवेश]

अलाउद्दीन—हमे डूब मरना चाहिए, महबूब ! थोड़े से राजपूतों ने हमारी सारी सेना का सहार कर दिया।

महबूब—मुझे भी इसका अफसोस है। मेरा तो सचमुच डूब मरने को जी चाहता है—लेकिन फिर सोचता हूँ कि पराजय के कलक को साथ लेकर जाना कायरता है—इससे मै जीवित हूँ। युद्ध मे पीठ दिखाने का मेरा स्वभाव नही है—लेकिन क्या किया जा सकता था, बादशाह सलामत ! सेना पर दोनो ओर से ऐसा भीषण आक्रमण हुआ कि न उसे अपनी रक्षा करने का अवसर मिला, न अधिक हानि उठाये बिना भागने का।

अलाउद्दीन—मै इसका बदला लूँगा, महबूब ! जैसलमेर के दुर्ग को जब तक धूल मे नही मिला दूँगा मुझे शाति नही मिलेगी।

महबूब—आपका क्रोध स्वाभाविक है, बादशाह सलामत ! अन्त मे विजय हमारी ही होगी। हम पर असावधानी मे पीछे से आक्रमण करके एक बार उन्होने हमे नीचा भले ही दिखा दिया हो—लेकिन दिल्ली की शक्ति अटूट है। फिर भी मै आप से कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। ऐसे वीर राजपूतो को शत्रु बनाने की अपेक्षा मित्र बना लेना क्या उचित न होगा ? आप कहे तो मै रत्नसिह से सन्धि की चर्चा करूँ।

अलाउद्दीन—यह हमारी दुर्बलता होगी, महबूब ! पराजित होकर सन्धि-चर्चा करना मेरे मान के विरुद्ध है। दुनिया क्या कहेगी—दिल्ली का बादशाह राजपूताने के एक छोटे से राजा से हार गया।

महबूब—नही बादशाह सलामत, दुनिया पर आपकी शक्ति अनेक बार प्रकाशित हो चुकी है। यदि हमारी ओर से सन्धि-चर्चा प्रारम्भ हो तो दुनिया इसे आपकी उदारता समझेगी न कि दुर्बलता।

[**रहमान का प्रवेश**]

अलाउद्दीन—कौन रहमान ! तुम कही गुम हो गये थे। हम तो समझे थे दुनिया से नाराज़ होकर कूच कर गए।

रहमान—जी हाँ, पहुँच तो मौत के मुँह में गया था लेकिन मौत का खतरा लेकर आपके लिए विजय का मार्ग बना रहा था ।

अलाउद्दीन—कैसे ?

रहमान—शत्रु के बन्दी-गृह में रहकर । बस, सब कुछ तैयार है । एक तरह से जैसलमेर हमारे अधिकार मे है ।

अलाउद्दीन—इस पराजय के बाद भी ?

रहमान—क्यो नही ? लडाइयाँ केवल तीरो और तलवारों से ही नही जीती जाती । उनके बिना भी शत्रु को पराजित किया जा सकता है, बादशाह सलामत ! मैंने इतने महीनो जैसलमेर के बन्दी-गृह मे रह कर व्यर्थ ही कष्ट नही सहा है । जो व्यक्ति दुर्ग की दुर्गम दीवारो के बाहर सुरक्षित आ गया है—उसमें उन्हे मिट्टी में मिलाने की भी शक्ति है ।

अलाउद्दीन—मै तो समझता हूँ—हमें इस वीर जाति से मित्रता कर लेनी चाहिए ।

रहमान—क्यो ?

अलाउद्दीन—हमारी जो सेना यहाँ आई थी वह लगभग सभी नष्ट हो चुकी है । दिल्ली से यहाँ तक और सेना बुलाना—इतने धन और सैनिकों को नष्ट कराना—वह भी इस पहाडी किले के लिए—इस रेगिस्तानी मुल्क के लिए, महँगा सौदा है, व्यर्थ का पागलपन है ।

रहमान—अधिक सेना का अब क्या होगा, बादशाह सलामत ? जैसलमेर तो बुझता हुआ चिराग है । आप उसकी अन्तिम लौ को देखकर विस्मित न हो । उसका जीवन समाप्त हो चुका है । इस दीपक का तेल व्यतीत हो गया है ।

महबूब—तुम्हारा क्या मतलब है, रहमान ! राजपूतों की वीरता की ज्योति अमर है । बडी-से-बडी आँधी उसे नही बुझा सकती ।

रहमान—मै सपनों के देश में नही रहता, भाई साहब ! मै निर्जीव शतरंज के मोहरे नही चलाता, मै तो मनुष्य रूपी मोहरो की चाले देखता

हूँ—सोचता हूँ। मैं हर एक बात सत्य की आँखों से देखता हूँ। मैंने सारा प्रबन्ध कर लिया है। अपनी बची-खुची सेना को एकत्रित कीजिए और कल ही दुर्ग पर दुबारा आक्रमण कीजिए और देखिए कि क्या जादू होता है ?

अलाउद्दीन—तुम भी एक रहस्यमय व्यक्ति हो, रहमान! तुमने क्या किया है और क्या सोचा है—इस विषय में जब तक साफ-साफ न जान लूँ—तब तक एक कदम भी किसी तरफ न उठाऊँगा। तुम मेरे साथ आओ, रहमान।

[**रहमान और अलाउद्दीन का प्रस्थान**]

महबूब—मैं तो चाहता हूँ, युद्ध की ज्वाला शान्त हो, परन्तु यह रहमान मेरे प्रयत्न को विफल किये बिना न रहेगा। क्या किया जाय, मनुष्य परिस्थितियों का दास है।

[**प्रस्थान**]

[**पट-परिवर्तन**]

चौथा दृश्य

[जैसलमेर का राजदरबार। मूलराज राजगद्दी पर बैठा है। उसके दाहिनी ओर की कुर्सी खाली पड़ी है। बाईं ओर महाकाल बैठा है। शेष दरबारी भी यथास्थान बैठे हैं।]

मूलराज—रत्नसिंह अभी तक नहीं आया ?

महाकाल—वे कल सन्ध्या को महबूब साहब की बेगम साहिबा और उनकी सुपुत्री को पहुँचाने गए थे।

मूलराज—तुम भी साथ गए थे न महाकाल !

महाकाल—मैंने जाना चाहा था, किन्तु कुछ दूर पहुँचने पर उन्होंने मुझे वापिस भेज दिया।

मूलराज—यह तो बडी चिन्ताजनक बात है, महाकाल ! शत्रु पराजित होकर विवेक खो देता है। अब अलाउद्दीन और रहमान का साथ हुआ है, वे सत्य और न्याय को राजनीति का अग नही मानते।

महाकाल—फिर भी मेरा विश्वास है, महारावल, कि सेनापति महबूब खाँ के होते हुए जैसलमेर के प्रति कपट और धोखा नही होगा।

[रत्नसिंह का प्रवेश]

मूलराज—आओ भैया रत्नसिह ! कहाँ रहे सारी रात—मैं तो आशंकित हो उठा था।

रत्नसिंह—प्रेम मनुष्यो को शकाशील बना देता है, भाई साहब ! रत्नसिंह को आपके स्नेह पर अभिमान है।

[रत्नसिंह अपने स्थान पर मूलराज की दाहिनी ओर बैठता है]

मूलराज—लेकिन तुमने यह तो बताया नही कि कल रात तुम्हे किसने रोके रखा ?

रत्नसिंह—राजपूत के हाथ मे जब तक तलवार है—तब तक उसकी

गति में कोई बाधक नही बन सकता, महारावल ! हाँ महबूब साहब ही कुछ परामर्श करते रहे ।

मूलराज—क्या ?

रत्नसिह—वह कहते रहे कोई ऐसा मार्ग खोजो जिससे यह अनावश्यक रक्त-पात रुके ।

मूलराज—यह बात उन्हे अलाउद्दीन से कहनी चाहिए ।

रत्नसिंह—उन्होने कहा तो है। और अलाउद्दीन पर हमारे वीर योद्धाओ के अटूट साहस और प्रबल पराक्रम का ऐसा प्रभाव पडा है कि वह युद्ध को जारी रखना उचित नही समझता ।

मूलराज—तो उसे तुरन्त दिल्ली लौट जाना चाहिए ।

रत्नसिह—केवल मान का प्रश्न विवेक पर पर्दा डाले हुए है । कल की लडाई में उसकी तीन चौथाई सेना और युद्ध-सामग्री समाप्त हो चुकी है और जब तक नई कुमुक न आवे वह हम पर आक्रमण नही कर सकता ।

महाकाल—ऐसी स्थिति मे यदि वह हमारी ओर सन्धि का हाथ बढ़ाए भी तो हमारा जो जन-धन का सहार हुआ है उसका प्रतिकार कराए बिना युद्ध बन्द नही करना चाहिए ।

रत्नसिह—क्षणिक विजय के नशे मे हमें वास्तविकता से मुख न मोड़ना चाहिए । हमें अपना मान और अस्तित्व बनाए रखने का इससे अच्छा अवसर हाथ नही लगेगा, महाकाल !

मूलराज—तुम ठीक कहते हो, रत्नसिंह ! अलाउद्दीन को हम दो-चार बार युद्ध-भूमि मे पराजित कर भी ले—दुर्ग की दृढता के कारण उसकी असख्य सेना के छक्के भी छुडाते रहे, फिर भी हमारे साधनो का एक छोर है और उसके साधनो का नही ।

महाकाल—यह तो ठीक है ! लेकिन, हम सारे रास्ते रोककर उसके एक भी सैनिक को दिल्ली न जाने दे । जो यहाँ है उन्हे यही समाप्त कर दे । इस महत्त्वाकाक्षी पशु को पकड़कर महाकाली के आगे बलि दे दें ।

क्या यह असभव है ?

रत्नसिंह—हमारे सारे ही सपने सच्चे नही हो सकते। मनुष्य को अपनी पशुता दूर करने का अवसर मिलना चाहिए। भारत की विशृंखल वीरता एक सूत्र मे बँध जावे तो कितनी अच्छी बात है। यहाँ युद्ध के नगाड़ो की जगह शान्ति और प्रेम की बाँसुरी बजनी चाहिए। भारत में चिरकाल से युद्ध की ज्वाला जल रही है। कला, व्यवसाय, साहित्य और समृद्धि का नाश हो रहा है। इसलिए हमे सम्पूर्ण देश को एक सूत्र मे बाँधने का यत्न करना चाहिए।

महाकाल—और वह सूत्र है अलाउद्दीन का साम्राज्य! मै कहता हूँ, महबूब की मित्रता के मोह मे अपनी सस्कृति और आदर्शो का अपमान न कीजिए। जो विदेशी व्यक्ति प्रभुता का मद लिये सिंहासन पर बैठकर इस देश के प्रत्येक राज्य को अपना अनुचर बनाना चाहता है, उसके साथ भारत का आत्मसम्मान अन्तिम क्षण तक युद्ध करेगा।

मूलराज—तुम्हारी बात मे भी बल है, महाकाल! और रत्नसिंह ने जो कुछ कहा है उस पर भी हमे विचार करना चाहिए। एकान्त में बैठकर हम इन बातों पर विचार करेंगे। निश्चय जानो महाकाल, जैसलमेर के राज्याधिकारी कोई ऐसा कार्य नही करेंगे जिससे क्षत्रियत्व को लज्जित होना पड़े।

महाकाल—इसका मुझे भरोसा है महारावल!

मूलराज—आज मैंने आप लोगो को इसलिए एकत्रित किया है कि कल विजय के उपलक्ष्य मे अपने वीर योद्धाओं का अभिनन्दन किया जावे। सबसे पहले मै जैसलमेर की वीरता के प्रतीक—क्षत्रिय कुल अभिमान—महाकाल जी को उनके अपूर्व साहसपूर्ण कार्य के उपलक्ष्य मे यह तलवार भेंट करता हूँ।

[**महाकाल नतमस्तक होकर तलवार लेता है।**]

महाकाल—महारावल ने मेरी सेवाओ को जो महत्त्व दिया उसके लिए मै गर्व अनुभव करता हूँ। मुझे तलवार से अधिक प्रिय वस्तु

ससार मे कुछ नही। आपकी दी हुई तलवार का प्राण रहते मै मान रखूँगा। यह तलवार सदा ही जैसलमेर की सेवा मे लगेगी।

[एक ओर से धड़ाके की आवाज़ आती है। धुआँ-सा उठता है और बढता है।]

रत्नसिंह—यह धमाका कैसा ?

मूलराज—और यह बेशुमार धुआँ !

[तांडवी का प्रवेश]

तांडवी—महारावल ! अनर्थ हो गया !!

मूलराज—क्यो क्या हुआ, तांडवी ?

तांडवी—किसी देश-द्रोही ने अपनी युद्ध-सामग्री और खाद्य-पदार्थों मे आग लगा दी है। वे देखिए भयंकर लपटे उठ रही है।

मूलराज—देखा न रत्नसिंह, सन्धि की बात कहकर हमे भुलावे में डाला जा रहा था और तुम्हारे महबूब ने भी अन्त में हमारे साथ शतरंज की चाल ही चली न ?

[दुर्ग के बाहर से सेना का कोलाहल]

तांडवी—सुनिए, महारावल ! बाहर शत्रु की सेना ने आक्रमण कर दिया है।

मूलराज—बोलो, मेरे वीर योद्धाओ, अब हमारा क्या कर्तव्य है ? हमारी युद्ध-सामग्री समाप्त हो गई है। हमारे अधिकांश सैनिक वीरगति प्राप्त कर चुके है। दुर्ग के भीतर रहकर लडने के लिए हमारे पास खाद्य-सामग्री समाप्त हो गई है।

रत्नसिंह—अब तो हमारे सामने एक ही मार्ग है—वह है युद्ध करते हुए आत्म-बलि देना।

महाकाल—हाँ महारावल, हम यद्ध करेंगे। अन्तिम क्षण तक युद्ध करेंगे। एक भी यादव वंशी के जीवित रहते जैसलमेर के दुर्ग मे शत्रु के अपवित्र चरण नही पड़ सकते।

मूलराज—तो ठीक है, समय हमारी परीक्षा लेना चाहता है। हम

साका करने के लिए प्रस्तुत है। (आकाश की तरफ़ देखकर) पूज्य पिताजी, हमे दुःख है कि हम शत्रु पर विजय न पा सके, किन्तु आपको इस पर गर्व होना चाहिए कि आपके वंशजों ने क्षत्रियत्व को कलंकित नही किया। आज इस विध्वंस-यज्ञ में पूर्णाहुति पडेगी। रत्नसिंह!

रत्नसिंह—हम प्रस्तुत है, भाई साहब!

मूलराज—किन्तु कुल में से एक व्यक्ति को सुरक्षित स्थान पर पहुँचाना है। गिरिसिंह को दुर्ग के बाहर किसी विश्वस्त व्यक्ति के सुपुर्द करना होगा। किस के पास भेजोगे रत्नसिंह?

रत्नसिंह—उसका मैंने निश्चय कर लिया है भाई साहब!

मूलराज—तो चलो, देवियो को जौहर के लिए तैयार करे। हम लोग भी केसरिया बाना पहनकर, सर पर कफन बाँधकर, संहार का स्वरूप बनकर दुर्ग के बाहर चले। प्रलयंकर शंकर का रूप धारण करें। काली का खप्पर भरने चलें।

[**सब का प्रस्थान**]

[**पट-परिवर्तन**]

पाँचवाँ दृश्य

[स्थान—दुर्ग मे एक मैदान। किरणमयी, प्रभा और अन्य क्षत्राणियाँ शृंगार किए हुए गाती हुई आती है]

सब—(गीत)

आओ, आओ,
सखि, जीवन की ज्योति जगाओ !

लाल लाल लपटें मतवाली,
बुला रही है तुमको आली !
जाकर पियो मरण की प्याली,
गाओ-गाओ
सर्वनाश के तार बजाओ !
आओ आओ,
सखि, जीवन की ज्योति जगाओ !

अग्नि-शिखा अम्बर को छूती,
क्षत्रिय के उर की मजबूती
देखो हुई सफल रजपूती ?
गाओ, गाओ,
जननी बनना सफल बनाओ !
आओ, आओ,
सखि, जीवन की ज्योति जगाओ !

आओ क्षत्राणी बालाओ,
जौहर की शुचि ज्वाल जलाओ,
इस ज्वाला पर सेज बिछाओ,

जाओ, जाओ,
मर कर, मा को अमर बनाओ !
आओ, आओ,
सखि, जीवन की ज्योति जगाओ ।

किरणमयी—क्षत्राणियो, आज हमारी परीक्षा का दिन है। हमारे स्वजनो ने—पति, भाई, और पिता आदि सभी ने हमारे लिए अपने हाथ से 'चन्दन' की विशाल चिता तैयार की है, उसमे वे अपने स्नेह-भरे हाथों से अग्नि प्रज्वलित करेंगे। कैसा सुअवसर आज हमें प्राप्त हुआ है। बोलो तुम सब प्रस्तुत तो हो न ?

एक क्षत्राणी—महारानी जी, क्षत्राणियाँ मृत्यु से डरना नही जानती।

किरणमयी—जिसे प्राणों का मोह हो या जिसे सांसारिक सुख की ज़रा-सी भी आकाक्षा हो वह सहर्ष जा सकती है। 'जौहर' में सम्मिलित होने के लिए किसी को बाध्य नही किया जाता, बहनो !

एक क्षत्राणी—इतिहास साक्षी है, क्षत्राणियो को आग की लपटें प्राणो को शाति देने वाली जान पड़ती है। संसार अनेक बार हमारी परीक्षा ले चुका है।

किरणमयी—ठीक है वीर बालाओ ! हम अपने पूर्व-पुरुषाओं के यश को कलकित न होने देगी। आज हमारे सभी स्वजन अपनी तलवार की प्यास बुझाने के लिए—प्यास बुझाते-बुझाते सदा के लिए रणभूमि मे सो जाने के लिए—अपने देश को अमर बनाने के लिए वीर-गति पाने जा रहे है। अब हमे किस वस्तु का मोह है जो कि हम जीवित रहे ?

पहली क्षत्राणी—ठीक है महारानी जी, आज प्रत्येक मा अपने मातृत्व को सफल समझती है, क्योंकि उसका पुत्र अपने देश के लिए बलि होने जा रहा है। आज प्रत्येक बहन अपने आपको धन्य मानती है, क्योंकि उसका भाई मा के चरणों में अपना सर चढाने जा रहा है। आज प्रत्येक वीरांगना फूली नही समाती, क्योंकि उसका सुहाग आज अमर होने जा रहा है।

[रत्नसिंह और गिरिसिंह का प्रवेश। किरणमयी और प्रभा को छोड़कर शेष सभी क्षत्राणियों का प्रस्थान। रत्नसिंह की आँखों में आँसू छलछला आते हैं]

किरणमयी—विचलित हो गए, देवर ! यह दुखी होने का समय नही है।

रत्नसिंह—मैं जानता हूँ यह आँसू बहान का समय नही है, आज जैसलमेर के क्षत्रिय नर-नारी, आबाल-वृद्ध वीरता का अद्‌भुत उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं इसका मुझे गर्व भी है, फिर भी मुझे दुख है कि मेरे कारण जैसलमेर का सर्वनाश हो गया भाभी !

किरणमयी—नही रत्नसिह ! तुमने यादव-वशियो को आत्म-तेज दिखाने का अवसर उपलब्ध किया है। हमारे कुल का दीपक गिरि **(गिरिसिंह के सिर पर हाथ रखकर)** चिरायु हो ! यह फिर से जैसलमेर के दुर्ग पर यादव-वश की पताका फहरावेगा। हमारा बलिदान व्यर्थ नही जावेगा देवर !

रत्नसिंह—गिरि को कहाँ भेजा जावे, भाभी ! यह भी एक समस्या है। मैं जिसका विश्वास करता हूँ—उसका अन्य साथी नही। जिस समय इसकी मा का देहान्त हुआ था तब से तुमने ही इसे मा का स्नेह दिया है—तुम्ही बताओ इसे कहाँ भेजा जावे ?

किरणमयी—मुझे गिरिसिंह प्रभा से भी अधिक प्रिय है। और अब तो यह जैसलमेर का भविष्य-निर्माता है। देश को पराधीनता के पाश से छुड़ाने का एकमात्र सहारा है। इसकी सुरक्षा का हमें पूरा प्रयत्न करना चाहिए। आओ, इस विषय में विचार कर ले।

[रत्नसिंह और किरणमयी का प्रस्थान]

गिरिसिंह—**(प्रभा से)** बहन ! आज तुम जा रही हो !

प्रभा—हाँ, भैया ! सदा के लिए कभी-कभी याद तो करोगे न मुझे ?

गिरिसिंह—तुम्हे सम्पूर्ण मनुष्यता याद करेगी बहन ! लेकिन यह तो

मैं गिरि के मार्ग के काटे साफ़ करने का काम करूँगी, मै जैसलमेर के दुर्ग पर यादवों के झण्डे को फिर स्थापित करने के आयोजन मे लगूँगी। मेरे लिए अभी सग्राम समाप्त नही हुआ।

किरणमयी—किन्तु तांडवी, नारी दुर्बल है। और संसार पिशाचो से भरा हुआ। नारी की उज्ज्वल चादर पर............

तांडवी—कोई दाग़ नही लगेगा, महारानी! यह देखो—(एक अँगूठी दिखाती है) इसके नगीने मे प्राणातक गरल है। ससार का कलक क्षत्राणी को जीवित नही पा सकता और यह देखो (छुरी दिखाती है) दुष्टो के कलेजे का खून पीने के लिए यह सदा प्रस्तुत है।

किरणमयी—फिर भी तुम्हे जौहर मे सम्मिलित न होते देखकर लोग कायर कहेगे।

तांडवी—मेरे कार्य इसका उत्तर दगे, महारानी जी! आप बलिदान कर रही है और मै तपस्या करूँगी, साधना करूँगी। बलिदान ससार की आँखो मे चकाचौध पैदा करता है। किन्तु तपस्या की आग कुटी के दीपक की भाँति अकिंचन जान पड़ती है। किन्तु संसार को दोनो की आवश्यकता है।

किरणमयी—तुम्हारे हृदय मे तो हम से भी अधिक आग है, तांडवी! फिर ...

तांडवी—वही आग तो परिस्थितियो से लडने के लिए कहती है। आप भावी पीढ़ियो मे प्राण फूंकने के लिए जीवन देना चाहती है और मै आपके बलिदान का उपयोग करने के लिए जीवित रहना चाहती हूँ। आपका बलिदान ही वह बल है जिससे मै देश-वासियों को जागृत करके जैसलमेर को स्वाधीन करूँगी। बलिदान की बुनियाद पर ही तपस्या का मदिर खडा होता है गिरि कहाँ है—मै उसके लिए आई हूँ। मुझे उसकी आवश्यकता है। मै उसे ले जाऊँगी।

किरणमयी—उसे रत्नसिह जी ले गये है।

तांडवी—कहाँ?

किरणमयी—(तांडवी के कानों में कुछ कहती है) अभी गये हैं।

तांडवी—मैं उनसे अपने गिरि को छीन लाऊँगी।

[तांडवी का प्रस्थान]

किरणमयी—कैसी रहस्यमयी नारी है यह तांडवी ! हम परि-स्थितियों से हारकर प्राण दे रही हैं—वह हारना तो सीखी ही नही है। वह साधना का अखण्ड दीप जलावेगी। चलो प्रभा, अन्य क्षत्राणियाँ हमारी प्रतीक्षा कर रही हैं।

[दोनों का प्रस्थान]

[पट-परिवर्तन]

छठा दृश्य

[स्थान—जैसलमेर का दुर्ग की तलहटी ! महाकाल केसरिया कपड़े पहने हुए—घायल अवस्था में एक ओर से आ रहा है। उसके कपड़े खून से तर हैं। उसके बाएँ हाथ में बहुत बड़ा घाव हुआ है, जिसे वह अपने सर की पगड़ी से बाँधता चला आ रहा है, दूसरी ओर से तांडवी का प्रवेश।]

तांडवी—तुम भैया ! अभी तो युद्ध का धौसा भी नही बजा ! तुम किससे खून की होली खेल आए ? लाओ पट्टी बाँध दूँ।

[महाकाल को पट्टी बाँधने लगती है।]

महाकाल—बहन, आज तो मैं निकला ही सर से कफन बाँधकर हूँ। इन छोटे-छोटे आघातो की चिन्ता ही क्या ? मुझे इसकी प्रसन्नता है कि मैंने जैसलमेर का विध्वंस कराने वाले नर-पिशाच रहमान खाँ को यम के घर भेज दिया। अब मैं सुख की मौत मर सकूँगा, ताडवी !

तांडवी—इतने सबेरे उससे कैसे मुठभेड हो गई !

महाकाल—उसकी मौत उसे बुला लाई। रत्नसिंह जी गिरिसिह को लेकर इधर से जा रहे थे—सम्भवतः राजकुमार को सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने के लिए। मैंने देखा रहमान कुछ आदमियो को लेकर उनके पीछे जा रहा है। उसकी आँखो मे हिसा चमक रही थी। पलक मारते ही—महाकाल शत्रु के सामने जा पहुँचा।

तांडवी—अकेले ही ?

महाकाल—हाँ, आज तो अकेले ही सहस्रों से लड़ना है। आज तो वापस न लौटने के लिए ही घर से निकले है। मेरी तलवार के एक वार ने रहमान खाँ के सर को धड़ से अलग कर दिया। उसके साथियों से लड़ते हुए थोड़ी-सी चोट लग गई है।

[तांडवी पट्टी बाँध चुकी है।]

तांडवी—उसके साथी बचकर निकल गये।

महाकाल—नही, मैने सबको मौत के घाट उतार दिया है।

तांडवी—सचमुच तुम शंकर अवतार हो! रत्नसिंह जी कहाँ गये ?

महाकाल—वे यही आते होगे। इसी पेड के नीचे युद्ध प्रारम्भ होने के पहले और रुकने के पश्चात् महबूब से भेट करने का उनका नियम है। तू बता यहाँ क्यो आई है ?

तांडवी—रत्नसिंह जी की खोज मे ?

महाकाल—क्यों ?

तांडवी—मुझे उनकी जरूरत है। मै इस युद्ध को जारी रखना चाहती हूँ। मै गिरिसिंह को राज-महलो मे नही किसी वन-प्रदेश की गुफा में रखना चाहती हूँ। मैं राजस्थान के बिखरे हुए यादव-वंशियो को एकत्रित करके फिर से युद्ध की आँधी चलाऊँगी! तुम लोगो का आज का वीर-व्रत तभी सार्थक होगा।

महाकाल—तेरा उद्देश्य सराहनीय है बहन, किन्तु कार्य अत्यन्त कष्ट-साध्य है। तुम वीर-बाला हो—तुमने भाई के साथ सदा ही ऐसे कार्य किये है जिनसे पुरुषों का पराक्रम भी ईर्षा करता है। किन्तु, बहन तू नारी है। नारी का पराक्रम आत्म-बलिदान है—प्रतिशोध नही! उधर देख दुर्ग पर जौहर की लाल लपटें उठ रही है—वे कहती है नारी मनुष्यता की रक्षा के लिए जीवनाहुति देकर अमर हो जाती है।

तांडवी—मैं अपनी वीर बहनों के सौभाग्य पर ईर्षा करती हूँ—और उनके बलिदानो का आदर करती हूँ। वे जीवन अर्पण करके राष्ट्र को जीवन दे रही है। मै उन्हें प्रणाम करती हूँ।

[दुर्ग की ओर हाथ जोड़ती है। दूसरी ओर से रत्नसिंह और महबूब आते है। साथ में गिरिसिंह भी है]

रत्नसिंह—वह देखो महबूब, उस धूएँ और लाल-लाल लपटों की ओर !

महबूब—सचमुच वह है क्या ?

रत्नसिंह—यह राजपूतो का आत्म-तेज है। यह बीर क्षत्राणियों का जौहर है! किसी शत्रु को दुर्ग में प्रवेश करते हुए देखने के पहले अपना अस्तित्व अग्नि को समर्पित कर देती है।

महबूब—जीवन के प्रति इतनी निष्ठुरता!

तांडवी—केवल क्षत्राणियाँ ही कर सकती है।

महाकाल—तभी उनके पुत्र मौत के साथ खेलते है।

रत्नसिंह—हाँ महबूब! यह हमारे जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण दिवस है। आज हम लोग वीर-व्रत लेकर घर से निकले है।

महबूब—वीर-व्रत ?

रत्नसिंह—हाँ, वीर-व्रत! आज हमारे लिए मृत्यु-सुन्दरी ने युद्ध-भूमि मे सेज बिछा रखी है। अब हम मे से कोई वापस नही लौटेगा, महबूब!

महबूब—लेकिन क्या इससे तुम्हारा उद्देश्य पूरा हो जायेगा ? क्या तुम्हारा देश इस पागलपन से स्वतन्त्र हो सकेगा ?

रत्नसिंह—बलिदान देने वाला परिणाम को नही देखता महबूब! वह तो यज्ञ मे अपनी आहुति डालता है। वह नही जानता कि उसे आत्मसात करके अग्नि जो धुआँ आकाश मे भेजती है—उससे सुख, ऐश्वर्य और नवजीवन की वर्षा होती है। वह नही जानता कि उसकी भस्म राष्ट्र के प्राणो में एक ऐसी ज्वाला धधका देती है जो कायरता को भस्म कर देती है, राष्ट्र जाग पड़ता है और लक्ष्य की सिद्धि करता है।

[नगाड़ा बजने की आवाज]

महाकाल—रत्नसिह जी, युद्ध का धौसा बज गया है। वीर-व्रत के साधक प्रलयङ्कर शङ्कर का रूप रखकर दुर्ग के बाहर आने ही वाले है।

रत्नसिंह—हाँ महबूब! अब मुझे जाना है—जाने से पहले एक वस्तु तुम्हे देना चाहता हूँ।

महबूब—क्या ?

रत्नसिंह—अपना गिरि।

[**गिरिसिंह का हाथ महबूब को देता है।**]

तांडवी—किन्तु रत्नसिंह जी, मैंने कभी किसी से कुछ नही माँगा, पर आज आप से एक भीख माँगती हूँ।

रत्नसिंह—ऐसी कौन सी वस्तु है ताडवी ! जिसे देना मेरी शक्ति में हो और तुम्हे न दूं।

तांडवी—मुझे चाहिए आपका गिरि—जैसलमेर का हृदय-धन ! यादवो का कुल-दीपक !

रत्नसिंह—वह तो मैंने अपने मित्र को दे दिया है।

महबूब—भरोसा रखो ताडवी ! यादवो का कुल-दीपक उसके गौरव के अनुकूल ही आदर और सुख पावेगा।

तांडवी—मै उसे फूलो की सेज पर नही सुलाना चाहती—शूलो के मार्ग पर चलाना चाहती हूँ। उसको इष्टदेव बनाकर जैसलमेर के महान् मन्दिर मे भक्तों को युद्ध की दीक्षा दूंगी। जैसलमेर अपने पुरुषार्थ से स्वतन्त्र होगा।

महबूब—डरो मत, ताडवी ! महबूब तुम्हारा सहायक होगा। मेरे मित्र ने अपना पुत्र मुझ सौपकर मुझे मेरा मार्ग बता दिया है। जितना विश्वास उन्होने अपने साथी—शतरज के खिलाडी—का किया है क्या उतना कोई और कर सकता है ? उन्होंने अपने वश-गौरव से भी ऊपर मित्रता को महत्त्व दिया है। शतरज ने दो अजनवियों को पास बैठाया था—युद्ध ने उस शतरंज के खेल को वास्तविक रूप दिया और आज रत्नसिंह जी ने मुझ पर जो विश्वास प्रकट किया है उसने मुझे एक नया ही प्रकाश दिया है। ऐसे व्यक्ति के हाथ में वे अपनी आत्मा के अंश को सौप रहे हैं जो उनके देश की स्वाधीनता का शत्रु है। वास्तव में आज मै पराजित हो गया।

रत्नसिंह—क्यो ?

महबूब—इस युद्ध के बाद यदि अलाउद्दीन ने जैसलमेर के

सिंहासन पर गिरि को न बैठाया तो मैं ताडवी की सेना में रहूँगा।

महाकाल—धन्य हो महबूब !

[नेपथ्य में गान]

गान—

आज आई, ज्योति आई।

घोर नभ को छेद, रवि की
रश्मियों ने छवि दिखाई।
निशि निराशा की मिटी है
और आशा मुस्कुराई।

आज आई, ज्योति आई।

आज नभ की लालिमा ने
मार्ग में रोली बिछाई।
देव मेरे आ रहे हैं—
गूँथकर मैं हार लाई।

आज आई, ज्योति आई।

[गाते हुए अख्तरी का प्रवेश]

गिरि—कौन ? अख्तरी !

अख्तरी—हाँ काका जी से मिलने आई थी।

[दौड़कर गिरि का हाथ पकड़ लेती है]

महाकाल—यह देखो तांडवी मनुष्यता का सजीव चित्र। जहाँ राष्ट्रीयता, देश-प्रेम, धर्मांधता, संस्कृतियो का अभिमान, सभ्यताओं का गर्व सभी कुछ समाप्त हो जाता है। गिरि और अख्तरी की भाँति यदि विरोधी कही जाने वाली संस्कृतियाँ एक दूसरे का हाथ पकड़ना चाहे तो उन्हें कौन रोक सकता है ?

महबूब—और एक दिन ऐसा अवश्य आएगा महाकाल, जब संसार भर की सारी जातियाँ, सारे धर्म, सारे राष्ट्र सरिताओं की भाँति अलग-अलग मार्गों से बहते हुए आकर मनुष्यता के महासमुद्र में समा जाएँगे।

रत्नसिंह—निश्चय ही मनुष्य की खड़ी की हुई दीवारो को मनुष्य स्वयं ही तोडेगा। उसने अपने आप ही अपने लिए कारागारो की सृष्टि की है—और न जाने क्यो उसे इन कारागारो से इतना मोह हो गया है कि वह बंधन को सत्य और मुक्ति को असत्य समझ बैठा है।

[तुरही की आवाज़ सुनाई देती है।]

तांडवी—राजपूती सेना ने युद्ध की तुरही बजा दी है।

रत्नसिंह—और मुझे उनके साथ शामिल होना है। आओ अन्तिम बार गले मिल ले। फिर हमारी तलवारें मिलेगी।

[रत्नसिंह और महबूब गले मिलते हैं]

अख्तरी—काकाजी, एक बाजी शतरज की भी खेल लीजिए न।

रत्नसिंह—वह अब तुम और गिरि खेलना।

[सबके चेहरे पर मुस्कुराहट खिल उठती है।]

[पटाक्षेप]